शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

दिसम्बर : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, मगसिर ☆ अंक : ८

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

शांति का झरना

अरे जीव! बाह्य विषय तो मृग जल के समान हैं; उनमें कहीं तेरी शांति का झरना नहीं है। अनंत काल से तूने बाह्य विषयों में दौड़-धूप की है, तथापि तुझे शांति नहीं हुई — तृप्ति नहीं हुई; इसलिये उनमें शांति नहीं है — ऐसा समझकर अब तो उनसे विमुख हो.... और चैतन्यस्वरूप की ओर ढल! चैतन्य स्वरूप की ओर ढलते ही क्षणमात्र में तुझे शांति का वेदन होगा.... और उस शांति के झरने में तेरा आत्मा तृप्त..... तृप्त हो जायेगा।

— पूज्य गुरुदेव

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१५२]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

निर्दोष होने का उपाय

आत्मा की क्षणिक अवस्था में दोष होने से अज्ञानी को तो अपना सम्पूर्ण आत्मा ही दोष स्वरूप भासित होता है, किन्तु उसी समय आत्मा का स्वभाव गुणों से भरा है – वह उसे भासित नहीं होता, इसलिए वह दोषों को दूर नहीं रह सकता। ज्ञानी तो क्षणिक दोष के समय ही अपने त्रिकाली गुणस्वभाव को जानता हुआ, उस गुणों के बल से दोषों का नाश कर देता है।

जहाँ दोष होते हैं, वहीं गुण भरे हैं।

जहाँ अल्पज्ञता हैं, वहीं स्वभाव में सर्वज्ञता की शक्ति भरी है।

जहाँ दु:ख होता है, वहीं त्रिकाली सुखगुण विद्यमान है।

जहाँ क्रोध होता है, वही त्रिकाली क्षमागुण पड़ा है।

– इस प्रकार क्षणिक दोष और त्रिकाली गुण दोनों एक साथ वर्त रहे हैं; उनमें गुणस्वभाव को पहिचानकर उसका अवलम्बन लेने से दोष दूर हो जाते हैं और गुणों की निर्दोषदशा प्रगट होती है।

आत्मधर्म

दिसम्बर : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, मगसिर ☆ अंक : ८

जिनशासन की महिमा

[८]

[भावप्राभृत गाथा ८३ के प्रवचन]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध वीतरागीभाव ही सच्चा धर्म है और उसी की प्राप्ति का जिनशासन में उपदेश है।—ऐसा जैनधर्म ही भव का नाशक और मोक्ष का दाता है। इसलिये हे भव्य जीवों! तुम आदरपूर्वक ऐसे जैनधर्म का सेवन करो....

शुद्धपरिणाम, वह आत्मा का धर्म है, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं, किन्तु राग उसमें नहीं आता। यह शुद्ध रत्नत्रयरूप वीतरागीभाव ही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है; वही जिनशासन है, वही सर्वज्ञनाथ की आज्ञा है और वही संतों का आदेश है.... इसलिये उसी को श्रेयरूप जानकर, उसकी आराधना करो।

जैनधर्म कहाँ रहता होगा ?

जैनधर्म अर्थात् आत्मा का सच्चा धर्म; आत्मा का यथार्थ स्वभाव ही जैनधर्म है; जिसके ग्रहण से अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है—ऐसा आत्मा का शुद्धभाव, वह जैनधर्म है। जैनधर्म कहाँ रहता होगा ? जैनधर्म आत्मा के शुद्धभाव में रहता है; इसके अतिरिक्त शुभाशुभभाव में या जड़ के भाव में जैनधर्म नहीं रहता।

जड़भाव में धर्म-अधर्म नहीं है

प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने 'भाव' होते हैं; जड़ में भी उसका जड़भाव होता है।

'जड़भाव से जड़ परिणमे, चेतन चेतनभाव'—इसप्रकार दोनों पदार्थों में अपने-अपने भाव हैं। अब, कौन-सा भाव धर्म है, वह यहाँ बतलाना है।

जड़-पुद्गल के अपने स्पर्शादि भाव होते हैं। पुद्गल में एक पृथक् परमाणु हो, उसे शुद्ध कहा जाता है, किन्तु उससे कहीं उसे सुख नहीं होता; तथा पुद्गल में स्कन्ध, वह विभाव पर्याय है, किंतु उस विभाव से कहीं उसे दुःख नहीं है;—इसप्रकार पुद्गल तो स्वभाव में हो या विभाव में हो, उसे सुख-दुःखरूप भाव नहीं है। इसलिये उस जड़ के भाव में कहीं धर्म या अधर्म नहीं है।

जीव के तीन प्रकार के भाव; उनमें शुद्ध भाव ही जैनधर्म

अब, यह जीव के भावों की बात है। जीव के भाव तीन प्रकार के हैं—अशुभ, शुभ, और शुद्ध। मिथ्यात्व-हिंसा आदि भाव हैं, वे अशुभ हैं; पूजा-व्रतादि, पुण्यभाव हैं, वे शुभ हैं; किंतु यह अशुभ और शुभ, दोनों भाव पर के आश्रय से होते हैं, इसलिये विभावरूप हैं, अशुद्ध हैं; आत्मा के स्वभावरूप नहीं हैं; इसलिये उन भावों में धर्म नहीं हैं; वे विभावभाव आकुलतारूप होने से जीव को दुःखरूप हैं और अपने स्वभावाधीन प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वे शुद्धभाव हैं, वे आत्मा के स्वभावरूप हैं, उनमें रागादि का अभाव है; अनाकुल शांतिस्वरूप होने से वे भाव जीव को सुखरूप हैं; इसलिये उन सुखरूप शुद्धभावों की उपादेयता बतलाकर यहाँ कहा है कि शुद्ध भाव ही जैनधर्म है, वही आदरणीय है और पुण्य, जैनधर्म नहीं है।

धर्म-अधर्म जीव के भावों से ही हैं; जैनधर्म वही है जो भव भ्रमण का अन्त कर दे।

जीव को गुण-दोष का कारण अपने भाव हैं; गुण-दोष अर्थात् धर्म-अधर्म, जीव को अपने भाव से ही होते हैं; इसलिये हे जीव! तू अपने भाव को पहिचान! कौन-सा भाव तुझे हितरूप है और कौन -सा अहितरूप है?—यह जानकर हितरूप भावों को ग्रहण कर और अहितरूप भावों को छोड़! इसके अतिरिक्त शरीरादि तो जड़ हैं; उस जड़ में कहीं तेरा धर्म या अधर्म नहीं है। पुद्गल में उसका जड़रूप भाव है किंतु सुख-दुःख के वेदनरूप भाव उसमें नहीं है। पुद्गल में सुगंध पर्याय हो या दुर्गंध पर्याय हो, उससे कहीं उसे सुख या दुःख नहीं है; तथा उससे जीव को सुख-दुःख हो - ऐसा भी नहीं है। जड़ के कारण जीव को सुख-दुःख नहीं होते, किंतु अपने भाव से ही सुख-दुःख होते हैं। सुख-दुःखरहित ऐसे पुद्गल द्वारा जीव अपने को सुखी-दुःखी मानता है, यह कैसी भ्रमणा है!! शरीर की निरोग अवस्था से जीव को सुख हो या रोग अवस्था से दुःख हो—ऐसा नहीं है; किंतु यह वस्तु मुझे अच्छी और यह बुरी—ऐसा जो राग-द्वेषरूप विभाव है, वही दुःख है।

पर के प्रति अशुभराग हो या शुभराग हो, उन दोनों में आकुलता है, दु:ख है, उसका फल बंधन है; उसमें धर्म नहीं है। निराकुल शांत परिणामरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह सुख है, वही धर्म है और उसका फल मुक्ति है। इसप्रकार जीव के भावों से ही भगवान ने धर्म-अधर्म कहा है। उसमें भी जीव के सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को ही जिनशासन में धर्म कहा है; उसके बदले जो शरीर की क्रिया आदि जड़ के कारण धर्म मानते हैं, वे तो जड़ जैसे ही हैं, उनकी तो बात ही क्या! किंतु जो शुभराग से धर्म मनाते हैं, उन्हें भी जैनशासन की खबर नहीं है। साधकदशा में जितना रागांश है, वह बंध का ही कारण है। राग तो आस्रव और बंध का कारण है, उसके द्वारा किंचित् संवर-निर्जरारूप धर्म नहीं होता। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से वीतरागी शुद्धभाव प्रगट हो, वही धर्म है। देखो, यह जिनशासन में धर्म की रीति!! ऐसा जैनधर्म ही भव भ्रमण का अन्त कर देता है। इसके अतिरिक्त व्रत-पूजादि के शुभाभाव को लौकिकजन तथा अन्यमती धर्म कहते हैं, परन्तु उसमें कहीं भवभ्रमण का अंत करने की शक्ति नहीं है। इसलिये जिसे भव भ्रमण से छूटना हो, उसे तो ऐसे शुद्धभाव को ही जैनधर्म जानकर, उसका सेवन करना चाहिये।

.....वे अन्यमती हैं

जो व्रत-पूजादि शुभराग को धर्म कहते हैं, वे लौकिकजन अन्यमती हैं; उन्हें लोकोत्तर जैनधर्म की खबर नहीं है। लोकोत्तर दृष्टिवाले जिनेन्द्रदेव तथा धर्मात्मा संत राग को धर्म नहीं मानते, किंतु शुद्ध परिणाम को ही धर्म कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि से जो मार्ग निकला और उसे झेलकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव आदि संतों ने जो मार्ग बतलाया, वही यह मार्ग है; यही जैन शासन है, इससे विरुद्ध माननेवाले सभी अन्यमत हैं।

'आत्मा का स्वभाव वह धर्म'—यही जैनशासन,
यही शास्त्रों का तात्पर्य और संतों का आदेश!

आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव है; वे ज्ञान-दर्शन परिणाम अपने स्वभाव में स्थिर रहें—उसका नाम धर्म है। शुभ-अशुभराग के कारण तो ज्ञान-दर्शन का उपयोग चंचलरूप होकर क्षोभ को प्राप्त होता है, इसलिये किसी प्रकार के रागादिभाव, वह धर्म नहीं है। राग-द्वेषरहित होकर ज्ञान-दर्शन अपने स्वभाव में निश्चल रहें, वह धर्म है। आत्म ज्ञानदर्शन स्वभावी है; वे ज्ञान-दर्शनपरिणाम, राग-द्वेष-मोह द्वारा मलिन न हों—क्षोभित न हों—अस्थिर न हों और राग-द्वेष-मोहरहित होकर, अपने शुद्धस्वरूप में ही स्थिर रहें—ऐसे शुद्ध परिणाम, वह आत्मा का धर्म है;

समयग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों उसमें आ जाते हैं, किन्तु राग उसमें नहीं आता। यह शुद्ध रत्नत्रयरूप वीतराग भाव ही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है, वही जिनशासन है और उसी को संत धर्म कहते हैं; बीच में राग रह जाये, वह तात्पर्य नहीं है, वह जिनशासन नहीं है, उसे संत, धर्म नहीं कहते।

सम्यक्त्वी का पुण्य भी धर्म नहीं

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि का पुण्य तो धर्म नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वी का पुण्य तो धर्म है ?

उत्तर—पुण्य, मिथ्यादृष्टि का हो या सम्यग्दृष्टि का हो—वह कोई धर्म नहीं है, वह तो आस्रव है। समयसार में कहते हैं कि—छट्ठे गुणस्थानवर्ती भावलिंगी संत को व्यवहार-प्रतिक्रमणादि का जो शुभ विकल्प है, वह निश्चय से विष है। यदि वह धर्म होता—अमृत होता—तो मुनिवर उसे छोड़कर निर्विकल्प कैसे होते ? इसलिये समझो कि धर्मी का राग भी पुण्य है, किन्तु धर्म नहीं है; धर्म तो वीतरागी शुद्धभाव ही है। अहो, एक ही नियमरूप और एक ही धाराप्रवाहरूप जैन मार्ग त्रिकाल चल रहा है।

धर्म की नींव की बात!

अहो ! एक बार ऐसी दृष्टि तो करो.... आत्मा का यथार्थस्वभाव क्या वस्तु है - उसे लक्ष में तो लो ! मैं रागरहित चिदानन्दस्वभावी हूँ—ऐसा आत्मस्वभाव का यथार्थ लक्ष होगा तो उस जाति का पुरुषार्थ बढ़ेगा। किन्तु राग को ही हितरूप मान ले तो राग से पृथक् होकर वीतरागता का पुरुषार्थ, वह किसके लक्ष से करेगा ? इसलिये यह धर्म की नींव की बात है।

मिथ्यादृष्टि को एकान्त अधर्म है! वीतरागभाव ही भवनाशक धर्म है।

सम्यक्त्वी की दृष्टि शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर ढल गई है; राग के एक अंश का भी उसकी दृष्टि में स्वीकार नहीं है;—ऐसी दृष्टि के बलपूर्वक सम्यक्त्वी को शास्त्र-स्वाध्यायादि शुभ प्रसंग के समय, अशुभ की निर्जरा होती है—उस अपेक्षा से सम्यक्त्वी को स्वाध्यायादि शुभ से भी निर्जरा होना कहा है और उपचार से उसे भी धर्म कहा जाता है। किन्तु जिसकी दृष्टि ही राग पर है, जो राग को ही धर्म या संवर-निर्जरा का कारण मानता है, उसे तो शुभराग के समय भी एकान्त अधर्म है; धर्म का अंश भी उसे नहीं है। और सम्यक्त्वी को भी जो राग है, वह कहीं धर्म नहीं है। राग के समय उसे जो अरागी दृष्टि, अरागी ज्ञान तथा अरागी चारित्र है, वही धर्म है। यदि शुभराग धर्म हो अथवा उससे धर्म होता हो तो उस राग को छोड़ना रहता ही नहीं !—इसलिये श्रद्धा में राग

की उपादेयता होने से मिथ्याश्रद्धा हो गई। मिथ्याश्रद्धा ही महान् अधर्म और अनंत संसार का मूल है। उसका अभाव होकर वास्तविक धर्म कैसे हो - वह यहाँ बतलाते हैं। शुभराग तो विकार है, औदयिकभाव है, आस्रव-बंध का कारण है; इसलिये संसार का कारण है। चिदानन्दस्वभाव में एकाग्र होने से रागरहित सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान तथा आनन्द के अनुभवरूप जो शुद्ध वीतरागभाव प्रगट हुआ, वह धर्म है, उस धर्म से कर्मबंध नहीं होता, किन्तु पूर्व काल में बँधे हुए कर्म उससे खिर जाते है;—इसप्रकार शुद्धपरिणामरूप धर्म से आस्रव-बंध रुकता है, संवर-निर्जरा होती है और उसी से सर्व कर्मों का अभाव होकर परम आनन्दरूप मोक्षदशा प्रगट होती है,—इसका नाम जैनधर्म है। ऐसे जैनधर्म को जानकर भव-विनाश के लिये उसकी आराधना करो!—ऐसा उपदेश है।

हे जीव! तू एकबार विचार तो कर....

हे जीव! अपने चिदानन्द तत्त्व के भान बिना तू शुभभाव भी अनंत बार कर चुका है, किन्तु अंशमात्र धर्म नहीं हुआ, तेरा संसार तो ज्यों का त्यों बना ही रहा। तूने शुभराग को धर्म माना, किन्तु शुभ करने पर भी उस शुभ से तू संसार में ही भटका। इसलिये जैनधर्म का उपदेश है कि रागरहित शुद्धभाव को ही तुम धर्म जानो! राग, वह धर्म नहीं है - ऐसा समझो! जिनेन्द्र भगवन्तों ने जिनशासन में ऐसा उपदेश किया है; संत भी ऐसा ही कहते हैं और शास्त्रों में भी यही आशय भरा है। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव को नहीं जानता, और पुण्य को ही धर्म मानकर उसका सेवन करता है वह जीव, भोग के हेतुरूप धर्म का ही अर्थात् संसार के कारण का ही सेवन करता है, किन्तु मोक्ष के कारणरूप वीतरागी धर्म का सेवन नहीं करता;—ऐसा आचार्यदेव अगली गाथा में कहेंगे।

भव का नाशक और मोक्ष का दाता जैनधर्म ही है। राग धर्म नहीं है, तथापि उसे उपचार से धर्म कहा है,—किन्तु वह उपचार कब ?

ज्ञानी के शुभ को उपचार से धर्म कहा हो, वहाँ अज्ञानी उसी को पकड़ लेता है किन्तु यह नहीं समझता कि वह उपचार किस प्रकार से है। मुख्य के अभाव में किसी अन्य में उसका उपचार करना, सो व्यवहार है; पूर्ण वीतरागता वह धर्म है—वह मुख्य है। पूर्ण वीतरागता के अभाव में धर्मी को आंशिक वीतरागभाव तो होता ही है, साथ में शुभराग होता है, तब अशुभ दूर होने की अपेक्षा से एकदेश वीतरागता मानकर, उसे (शुभराग को) उपचार से धर्म कहा है, किन्तु उसके तो उसी समय अनुपचार (-निश्चय) धर्म का अंश वर्तता ही है, पूर्ण वीतरागता की दृष्टिपूर्वक एकदेश

वीतरागता वर्तती है, वही भूतार्थ धर्म है। ज्ञानी के शुभ को उपचार से धर्म कहा, वह ऐसा बतलाने के लिये है कि वहाँ उस समय अनुपचाररूप यथार्थ धर्म (-सम्यग्दर्शनादि) वर्त रहा है। जो उस यथार्थ धर्म को जानता नहीं है और शुभराग को ही सचमुच धर्म मानकर उसी में संतुष्ट है, उसे धर्म की प्राप्ति नही होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही सच्चा धर्म है, और उसी की प्राप्ति का जिनशासन में उपदेश है। ऐसा धर्म भव का नाशक और मोक्ष का दाता है, इसलिये हे भव्यो! तुम आदरपूर्वक ऐसे जैनधर्म का सेवन करो। [गाथा ८३ पूर्ण]

अनमोल मानव जीवन का कर्तव्य

एक बिल्कुल भूखे गिद्ध पक्षी को कही रोटी का टुकड़ा मिल गया, किन्तु पानी में उसका प्रतिबिम्ब देखकर माँस के टुकड़े के लालच में वह भी खो दिया; उसी प्रकार इस संसार में अनन्त जन्म -मरण के प्रवाह में बहते हुए जीव को अल्प मानव जीवन का टुकड़ा मिला है, उसे मूर्ख जीव विषयों में बर्बाद कर देता है। अरे! इस अनमोल जीवन को विषय-भोगों की लालसा में बर्बाद करने की अपेक्षा वैराग्य लाकर ब्रह्मचर्य पालन तथा निवृत्तिपूर्वक तत्त्वाभास करना ही उत्कृष्ट कर्तव्य है।

पूज्य गुरुदेव द्वारा जैनधर्म की महान प्रभावना

एक साथ ११ कुमारिकाओं द्वारा ब्रह्मचर्य दीक्षा ग्रहण

विलासिता पर आध्यात्मिकता की महान विजय

साधर्मी बन्धुओं को ज्ञात हो चुका है कि—वीर सं० २४८३ के पर्यूषण पर्व के प्रथम दिन—भाद्रपद शुक्ला पंचमी, रविवार के शुभ दिन, परम पूज्य सद्गुरुदेव के उपदेश से प्रभावित होकर १८ से २६ वर्ष उम्र की छोटी-छोटी से १४ कुमारिका बहिनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा अंगीकार की थी। यह ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा जिस उद्देश्य से धारण की गई है, उसका खास महत्व है;—वह हम आगे चलकर देखेंगे।

यों तो इस युग में परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा दिगम्बर जैनधर्म की महान प्रभावना के कार्य होते ही रहते हैं; जिनसे हमारे साधर्मी बन्धु भलीभाँति परिचित हैं। आज तो पूज्य गुरुदेव का प्रभाव सारे भारत में फैल गया है। उसी में इन १४ कुमारिका बहिनों ने आजन्म ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ग्रहण की—यह भी जैनधर्म की प्रभावना का एक ऐसा ही महान प्रसंग है।

मात्र बह्मचर्य पालन के शुभराग में रुक जाना ही इन बहिनों का उद्देश्य नहीं है; उनका उद्देश तो निवृत्त जीवनपूर्वक आगे बढ़कर आत्महित की साधना करना है। किसी भी उपदेशक के प्रभाव से एक साथ १४ कुमारिकाओं ने मात्र आत्महित की साधना के हेतु इसप्रकार अपना जीवन समर्पित कर दिया हो—ऐसा वर्तमान काल में सुनाई नहीं देता। परमपूज्य गुरुदेव का उपदेश जीवों को कितनी सरलता से आत्महित में लगा देता है और वह उपदेश कितना वीतरागता पूर्ण होता है—उसका अनुमान-विवेकी जिज्ञासु इस महान प्रसंग पर से लगा सकेंगे। पूज्य गुरुदेव का आत्मस्पर्शी उपदेश अनेक जीवों के जीवन बदल देता है।

जिन कुमारिका बहिनों ने ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा अंगीकार की है, उनके नाम निम्नानुसार हैं:—

१. ललिता बहिन (सुपुत्री, धरमशी हरजीवन मणियार) वढ़वाण, उम्र २६

२. जसवंती बहिन (सुपुत्री, हीराचंद त्रिभुवनदास दामाणी) सोनगढ़, उम्र २६
३. चन्द्रा बहिन (सुपुत्री, छोटालाल डामरदास शाह) धांगध्रा, उम्र २६
४. पुष्पा बहिन (सुपुत्री, छोटालाल डामरदास शाह) धांगध्रा, उम्र २४
५. पद्मा बहिन (सुपुत्री, केशवलाल महीजी भाई शाह) बोरसद, उम्र २५
६. इंदुमति बहिन (सुपुत्री, चिमनलाल भाईलाल शाह) बरवाला, उम्र २२
७. सुशीला बहिन (सुपुत्री, जगजीवन चतुरभाई शाह) सुरेन्द्रनगर, उम्र २१
८. उषा बहिन (सुपुत्री, जगजीवन बाउचन्द दोशी) सावर कुंडला, उम्र १८
९. सुशीला बहिन (सुपुत्री, शांतिलाल गिरधरलाल मेहता) जोडीआ, उम्र २२
१०. चन्द्रप्रभा बहिन (सुपुत्री, रतिलाल पोपटलाल शाह) जामनगर, उम्र २३
११. जसवंती बहिन (सुपुत्री, रतिलाल पोपटलाल शाह) जामनगर, उम्र २१
१२. भानुमती बहिन (सुपुत्री, खीमचनद जेठालाल शेठ) राजकोट, उम्र २१
१३. जसवंती बहिन (सुपुत्री, हिंमतलाल छोटालाल झोबालिया) नागनेश, उम्र २१
१४. वसंत बहिन (सुपुत्री, शिवलाल त्रिभुवनदास गांधी) अमरेली, उम्र २१

—यह चौदाह वीर बालाएं एक साथ 'ब्रह्मचर्य-दीक्षा' लेने के लिये जब गुरुदेव के समक्ष उपस्थित हुईं, उस समय का दृश्य दर्शनीय था—मानो उन चौदह कुमारिकाओं ने पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मोपदेशरूपी बाण द्वारा संसार को जीत लिया हो और आध्यात्मिकता की विजयपताका फहरा रही हों!

छोटी-सी उम्र में आत्महित की भावना से ऐसा सुन्दर कार्य करने के लिये वे सब बहिनें अभिनन्दन की पात्र हैं; तथा उन्हें प्रमोदपूर्वक अनुमति देने के लिये उनके माता-पिता भी धन्यवाद के पात्र हैं। यह ब्रह्मचर्य-प्रसंग सोनगढ़ में अत्यन्त उल्लासपूर्वक मनाया गया था।

इन चौदह बहिनों की भाँति दूसरी छह बहिनों ने भी सात वर्ष पहले पूज्य गुरुदेव के निकट आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली थी।—इसप्रकार सोनगढ़ में इससमय कुल बीस ब्रह्मचारिणी कुमारिका बहिनें रहती हैं।

यथार्थ तत्त्व की रुचिपूर्वक सामूहिक 'ब्रह्मचर्य-दीक्षा' के ऐसे प्रसंग भारत के इतिहास में बिरले ही हैं। विषय-कषायों से भरपूर सांसारिक वातावरण में असंभव जैसी लगनेवाली यह बात ज्ञानी-संतों के सम्पर्क में कितनी सुगम बन जाती है!—उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। वास्तव में

तो परमोपकारी पूज्य गुरुदेव परम असंगी शुद्ध चैतन्य तत्त्व के उपदेश की जो अमृतधारा निरंतर प्रवाहित कर रहे हैं, उसमें कोई ऐसा प्रभाव है कि उस उपदेश का श्रवण और मंथन करनेवालों के जीवन में वैराग्यभाव का पोषण सहज ही होता जाता है और उसी का यह एक छोटा-सा फल है... शुद्ध स्वभावोन्मुख होने के लिये दिशा बदलने का उद्यम करते-करते बीच में राग की दिशा भी पलट जाती है और उससे वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति विनय-भक्ति के तथा ब्रह्मचर्यादि के अनेक प्रसंग बनते हैं।

इन सब बहिनों ने आत्महित के लिये जीवन समर्पित कर देने का जो साहस किया है, उसमें परम पूज्य गुरुदेव के आत्मस्पर्शी उपदेश का तो मुख्य प्रभाव है ही—तदुपरान्त ऐसे ही महत्त्व का एक दूसरा भी कारण है और वह है—पवित्रता की मूर्ति दो बहिनों की शीतल छाया तथा उनकी वात्सल्यभरी उष्मा! पूज्य बहिनश्री चंपा बहिन तथा शांताबहिन (जिनका उल्लेख मुख्यतः 'बेन श्री—बेन' के संयुक्त नाम से किया जाता है) का सम्यक् धर्म रंग से रंगा हुआ सहज जीवन तो प्रत्यक्ष देखने से ही ख्याल में आ सकता है। उन दोनों बहिनों की पवित्रता, अनुभव, संस्कार, वैराग्य तथा देव-गुरु-धर्म के प्रति अपार भक्ति एवं अर्पणता, विनय और वात्सल्य आदि का विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं हो सकता। आज से पाँच वर्ष पहले जब कलकत्ता से सेठ बच्छराजजी गंगवाल तथा उनकी धर्मपत्नी मनफूलादेवी पहली बार सोनगढ़ आये... और सिर्फ चार दिन पूज्य गुरुदेव का आध्यात्मिक उपदेश सुना.... तथा दोनों पवित्र बहिनों की धर्ममय जीवनचर्या देखी... तब वे इतने प्रभावित हुए कि उसी समय सोनगढ़ में बहिनों के लिये एक आश्रम बनाने का निश्चय किया और तदनुसार 'श्री गोगीदेवी दिगम्बर जैन श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम' के नाम से सवा लाख रुपया खर्च करके एक सुन्दर आश्रम का निर्माण करा दिया। उस आश्रम में पूज्य बेन श्री-बेन की हितकर छाया में अनेक बहिनें निवास करती हैं। जो आश्रम में नहीं रह सकती, वे भी आसपास ही रहती हैं, उन बहिनों के जीवन में पूज्य बेन श्री-बेन निरंतर अपार वात्सल्यपूर्वक ज्ञान-वैराग्य का सिंचन करती हैं... देव-गुरु-धर्म की भक्ति के सम्बन्ध में तो वर्तमान युग में उनकी अतृतीयता है।—इसप्रकार धर्म माता पूज्य बेन श्री-बेन ने इन पुत्रियों के जीवन का निर्माण किया है और उन माताओं की पवित्र गोद में रहकर ही इन सब बहिनों ने सत् की शरण में जीवन अर्पित करने की शक्ति प्राप्त की है।—इसप्रकार परम पवित्र पूज्य बहिन श्री चंपाबेन और परम पवित्र बहिन श्री शांताबेन का भी बहिनों के जीवन में महान उपकार है।

ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा ग्रहण करनेवाली इन सभी बहिनों ने अनेक वर्ष तक परम पूज्य गुरुदेव के

उपदेश का श्रवण तथा अनेक शास्त्रों की स्वाध्याय भी की है। दर्शन-पूजन-भक्ति आदि कार्य तो उनके लिये सहज ही हैं। इन बहिनों ने अनेक वर्ष के सत्समागम एवं अभ्यास के बाद अपने आप ब्रह्मचर्य जीवन बिताने का निर्णय किया है; उसके लिये किसी ने उनसे कहा नहीं है। इतना ही नहीं, किन्तु जब उन्होंने ब्रह्मचर्य लेने सम्बन्धी अपने विचार प्रगट किये, तब उनकी दृढ़ता की कसौटी करके ही उनके बड़ों ने सम्मति दी है। यह बहिनें अपनी भूमिका को लक्ष में रखकर रात्रि भोजन त्याग, कंदमूल आदि अभक्ष्य त्याग—इत्यादि प्रकार से योग्य संयमपूर्वक रहती हैं और अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिये निवृत्तिपूर्वक शक्ति अनुसार प्रयत्न करती रहती हैं। संतों की छाया में आत्मसाधना द्वारा वे अपने ध्येय को शीघ्र प्राप्त करें.... ऐसी भावना है।

ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा ग्रहण करने के दिन वीर सं० २४८२ भाद्रपद शुक्ला पंचमी प्रातःकाल सभी बहिनों ने भक्त मंडल सहित भक्तिपूर्वक श्री देव-गुरु-शास्त्र के दर्शन-स्तुति तथा जिन मन्दिर में श्री जिनेन्द्र भगवान की और दशलक्षण धर्म की समूह पूजन की थी। तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य-प्रसंग के निमित्त से बेन्डबाजों सहित श्री जिनवाणी माता की रथयात्रा निकली थी। चौदह बहिनों ने नगर में घूमकर रथयात्रा 'श्री प्रवचन-मण्डप' में आई थी... वहाँ प्रवचन करते हुए पूज्य गुरुदेव ने वैराग्यपूर्वक कहा था कि—''यह शरीर तो मिट्टी का पुतला है; इसमें कहीं आत्मा का सुख नहीं है..... इस पर से दृष्टि हटाकर चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने पर अंतर से शांति का एक झरना फूटता है! जीव जो शांति लेना चाहता है, वह किन्हीं संयोगों में से नहीं आती किंतु अपने ही स्वभाव में से आती है।'' पूज्य गुरुदेव का वह अध्यात्मरसपूर्ण प्रवचन श्रोताओं को वैराग्य की धुन में मस्त बना रहा था। वह चैतन्यस्पर्शी प्रवचन सुनने के बाद चौदहों बहिनें एक साथ हाथ जोड़कर ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा लेने के लिये खड़ी हुई... और सारी सभा उत्सुकतापूर्वक उस वैराग्य प्रसंगों को निहारने लगी।

सर्व प्रथम पूज्य गुरुदेव ने मंगलाचरण किया, और पूर्व काल में किसी कुदेव-कुगुरु के सेवन से अथवा सच्चे देव-गुरुकी अविनय या तीव्र हिंसादि परिणामों से जो दोष लगे हों, उसको मिथ्या कराया। तत्पश्चात्—'यह बहिनें छोटी-सी उम्र में ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा ले रही हैं, वह उत्तम कार्य कर रही हैं'—ऐसा कहकर पूज्य गुरुदेव ने ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा दी थी कि—तुम चौदहों पुत्रियाँ पंचपमरेष्ठी की साक्षी से और आत्मा की साक्षी से यावज्जीवन—जिन्दगी भर ब्रह्मचर्य का पालन करना।

बहिनें हाथ जोड़कर विनयपूर्वक सुन रही हैं और गुरुदेव कह रहे हैं—निवृत्तिपूर्वक आत्मविचारों के अवकाश के लिये यह ब्रह्मचय निमित्त है। आत्मा के लक्ष में आगे बढ़ने के लिये यह भी एक निमित्त है। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की बहुत प्रशंसा आती है। दृष्टि-सहित की तो बात ही और है किन्तु उससे पूर्व भी पात्र जीवन को ब्रह्मचर्यादि का रंग होता है।

—इसप्रकार बहिनों की ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा पूर्ण होने के पश्चात् पूज्य गुरुदेव ने सभा को संबोधित करके कहा कि—"आज इन बेटियों ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली—यह अति उत्तम कार्य किया है। यह पुत्रियाँ कई वर्ष से यहाँ रहकर तत्त्व का श्रवण करती हैं... अभ्यास करती हैं... और समझपूर्वक यह कार्य कर रही हैं। धर्म का मूलस्वरूप क्या है और इस ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा की मर्यादा कितनी है—यह सब इनके ख्याल में है। पहले छह बहिनों ने प्रतिज्ञा ली थी और आज इन चौदह बहिनों ने ली—इसप्रकार बीस बहिनें हुईं। ऐसा प्रसंग अनेक वर्षों के बाद आया है। रामजी भाई तो कहते हैं कि—'बेटियों ने अद्‌भुत-अलौकिक डंका बजाया है।' दूसरों को भी इनका अनुकरण करने योग्य है। कई लोग तो पचास-पचास वर्ष में भी वृत्ति को नहीं रोक सकते, जबकि यह तो इस छोटी-सी उम्र में इतना बड़ा उत्तरदायित्व ले रही हैं! इन बहिनों ने महान साहस किया है... किसी ने उनसे कहा नहीं है, किन्तु उन्हें अपने आप ऐसे भाव हुए हैं... यह तो सहज का सौदा है...."

(पूज्य गुरुदेव ने इतना कहा और श्री हिंमत भाई भाषण देने के लिये खड़े हुए... किन्तु अचानक एक बात याद आते ही गुरुदेव बोले:—)

"हाँ, देखो! एक बात रह गई। इन बहिनों का यह जो समूह तैयार हुआ, उसका श्रेय तो इन बहिनों को (बहिन श्री-बहिन को) है, क्योंकि मैं तो बहिनों की बात में पड़ता नहीं हूँ—मेरा तो स्त्रियों के साथ कभी परिचय ही नहीं है; इसलिये इस प्रसंग का श्रेय तो सचमुच इन दोनों बहिनों को मिलता है। बहिनों की छत्रछाया में इन ब्रह्मचारिणी बहिनों का रक्षण तथा पालन होता है, वह इन्हीं बहिनों का प्रभाव है। इन बहिनों के (बहिन श्री चंपाबेन तथा शांताबेन के) आत्मा अलौकिक हैं.... इस काल में ऐसी बहिनें उत्पन्न हुईं, यह मुमुक्षु मंडल की बहिनों का सद्‌भाग्य है... जिनके भाग्य में होगा, वे इनका लाभ लेंगी।"

पश्चात् समस्त संघ की ओर से नूतन ब्रह्मचारी बहिनों को अभिनन्दन देते हुए विद्वान भाई श्री हिंमतलालजी ने कहा था कि—आज मंगल दिवस है... एक साथ १४ बहिनों ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली, वह गुरुदेव का महान प्रभाव है... आनन्द निधान चैतन्य भगवान के दर्शन करके, उसका जो स्वरूप पूज्य गुरुदेव बतलाते हैं, उसे झेलकर—'हम अपने आनन्द निधान को कैसे प्राप्त करें?...

और इस दु:खद भवसागर से कैसे पार हों ?'—ऐसी भावना से, 'जब तक वह आनन्दधाम हाथ न आये, तब तक उसे स्पर्श करके आनेवाली संतों की वाणी सुनते ही रहें... संतों की छाया में रहकर उस आनन्दधाम की झाँकी दिखलानेवाली वाणी का मंथन करते ही रहें....' ऐसी भावना से आज इन बहिनों ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की है; इसके लिये हम उनका अभिनन्दन करते हैं... जिस भावना से उन्होंने यह कार्य किया है, उसमें आगे बढ़कर वे पुरुषार्थ द्वारा आत्महित साधें—ऐसी हमारी हार्दिक इच्छा है.... हम सबको भी यही करनेयोग्य है कि जिससे अनंत भवभ्रमण से छुटकारा हो.... इन बहिनों ने जो विराट प्रयत्न प्रारम्भ किया है, उसके लिये उन्हें पुन: अभिनन्दन है !..... उन्होंने अपने परिवार की शोभा बढ़ाई है और मुमुक्षु मंडल के गौरव में वृद्धि की है।

—उपरांत इस प्रसंग पर तारों और पत्रों द्वारा कुछ अभिनन्दन के संदेश आये थे, वे भी पढ़कर सुनाये गये थे। उसमें इन्दौर से प्रतिष्ठाचार्य पंडित श्री नाथूलालजी ने अभिनन्दन देते हुए अपने पत्र में प्रमोद पूर्वक लिखा था कि—

'श्री पूज्य स्वामीजी से श्री दशलक्षण धर्म के प्रारम्भिक दिवस भाद्रपद शुक्ला पंचमी को प्रात:काल आजीवन ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा ग्रहण करनेवाली १४ कुमारी बहिनों के प्रति मैं हार्दिक आदरभाव प्रगट करता हूँ।'

''बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर श्री नेमिनाथ और श्री पार्श्वनाथ के पश्चात् श्री महावीर स्वामी का यह तीर्थकाल है तथा बाल ब्रह्मचारी श्री पूज्य कानजी स्वामी की अपूर्व वाणी का प्रभाव है कि जिनके आदर्श का मूर्तरूप सौराष्ट्र के अनेक तरुण बाल ब्रह्मचारी बन्धुओं में दृष्टिगोचर हो रहा है। इसीप्रकार ब्राह्मी-सुन्दरी और राजीमती के आदर्श को कार्यान्वित करनेवाली सोनगढ़ में विद्यमान २० बालब्रह्मचारिणी बहिनें तथा युवावस्था में ही ब्रह्मचर्य अंगीकार करनेवाले अनेक दम्पति भगवान महावीर के तीर्थ की प्रभावना कर उसे सार्थक बना रहे हैं। नि:संदेह आज यह भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय है।''

अभिनन्दन संदेश के पश्चात् श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट की ओर से सेठ श्री प्रेमचन्द भाई ने बहिनों को अभिनन्दन देते हुए परम कृपालु गुरुदेव की महिमा का वर्णन किया था और 'यह बहिनें आत्मा की शांति को लक्ष में रखकर आगे बढ़ें'—ऐसी भावनारूप आशीर्वाद दिया था; पश्चात् प्रत्येक बहिन को एक-एक साड़ी और चाँदी का गिलास भेंट दिया गया था।

तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेनेवाली सभी बहिनों के संरक्षकों की ओर से जिनमन्दिर को तथा कुमारिका-ब्रह्मचर्याश्रम आदि के लिये दान की रकमें बोली गई थीं। इस अवसर पर विभिन्न

ग्रामों से करीब चार हजार आदमी आये थे... और प्रत्येक ग्राम के मुमुक्षु मंडल ने अपना वात्सल्य प्रदर्शित किया था। कई लोगों ने कुमारिका-ब्रह्मचर्याश्रम के फंड में हजारों रुपये की रकमें लिखाई थीं। सुतार और ग्वालों ने भी रकमें लिखाकर अपना प्रमोद प्रगट किया था।

अंत में जय-जयकार पूर्वक इस प्रसंग की पूर्णता हुई थी और ब्रह्मचारिणी बहिनों की ओर से श्रीफल बाँटे गये थे।

फिर ब्रह्मचारिणी बहिनें धर्ममाता पूज्य बहिन श्री-बहिन का आशीर्वाद लेने गईं.... और वहाँ विनयपूर्वक दर्शनादि किये। पूज्य बहिन श्री-बहिन ने प्रसंगोचित सीख देते हुए अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक कहा—'तुम आत्महित के हेतु जीवन बिताना... देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति और बहुमान बढ़ाना... आपस में एक-दूसरे से बहिन की भाँति बर्ताव करना... और वैराग्यपूर्वक रहना... इसी में शासन की शोभा है। आत्मा का कल्याण कैसे हो... और उसके लिये पूज्य गुरुदेव क्या कहते हैं—उसका विचार करना... स्वाध्याय एवं मनन बढ़ाना। ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा के कारण आत्मविचारों के लिये निवृत्ति मिलती है—ऐसा पूज्य गुरुदेव बारम्बार कहते हैं; इसलिये निवृत्ति लेकर स्वाध्याय-मनन करना। इसप्रकार तुम्हें अपने जीवन में आत्मकल्याण का लक्ष रखना है।'

पूज्य बहिन श्री बहिन की उस हितकारी सीख से सबको बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

उस प्रसंग पर 'आश्रम' को सुशोभित मंडप आदि से सजाया गया था... और उस दिन का वातावरण अत्यन्त उल्लास पूर्ण था। उस दिन के भक्ति आदि के कार्यक्रम भी विशेष उल्लास पूर्वक हुए थे। ब्रह्मचारिणी बहिनों की ओर से आहार दान के लिये प्रार्थना करने पर पूज्य गुरुदेव ने भाद्रपद शुक्ला छठ के दिन आश्रम में पधारकर भोजन किया था।—इसप्रकार पूज्य गुरुदेव द्वारा होनेवाली अनेक विध प्रभावना का यह एक महान प्रसंग था।

परम प्रभावी पूज्य गुरुदेव द्वारा परम हितकारी जैनधर्म की जो विजय ध्वजा फहरा रही है उसे देखकर किसी भी धर्मवत्सल जिज्ञासु जीव का हृदय प्रमोद से प्रफुल्लित हुए बिना नहीं रह सकता।

अंत में, सर्व हितार्थी जीवों के लिये ऐसी भावना है कि वे अपने जैन शासन के एक अत्यन्त मूल्यवान रत्न की परख करें; उसके द्वारा होनेवाली जैन धर्म की प्रभावना को देखकर प्रमुदित हों और प्रत्येक आत्मार्थी जीव अपने आत्महित के लिये जितना लाभ लिया जा सके, उतना अवश्य लें। विवेकजन आत्महित के अवसर में प्रमाद नहीं करते।

जय जिनदेव! **जय जिनदेव!** **जय जिनदेव!**

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[२२]

अभोक्तृत्व शक्ति

[क्रमशः गतांक १५० से चालू]

ज्ञायकस्वरूप आत्मा में जिसप्रकार विकार के अकर्तृत्वरूपशक्ति है, उसी प्रकार हर्ष-शोकादि विकार के अभोक्तृत्वरूप शक्ति भी है। 'समस्त कर्मों से किये गये और आत्मा के ज्ञातृत्वमात्र से पृथक्—ऐसे मलिन परिणामों के अनुभव के उपरमस्वरूप अभोक्तृत्वशक्ति है।' ज्ञान को अन्तरोन्मुख करने से जो अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग हुआ, उसमें हर्ष-शोक के उपभोग का अभाव है। हर्ष-शोकादि विकारीभावों को कर्मकृत कहा, वह ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से कहा है; अकर्तृत्वशक्ति के विवेचन में उसका अत्यन्त स्पष्टीकरण आया है, तदनुसार इस अभोक्तृत्वशक्ति में भी समझ लेना।

पराश्रय से हर्ष-शोक के भाव होते हैं, उनका अनुभव करने की योग्यता एक समय -पर्यंत की पर्याय में है, किन्तु आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तो उस अनुभव से रहित है। यदि त्रिकाली स्वभाव ही वैसा हो तो उस विकार के वेदन से छूटकर अंतर अनुभव के निर्विकार आनन्द का वेदन नहीं हो सकता। तदुपरान्त यहाँ तो पर्याय को लेकर ऐसी बात है कि—पर्याय में जिसे एकान्त हर्ष-शोक का ही वेदन है और उससे पार ज्ञायकस्वभाव का किंचित भी वेदन नहीं है, उसे आत्मा की अभोक्तृत्वशक्ति की श्रद्धा हुई ही नहीं है। साधक को अल्प हर्षादि के समय भी उससे भिन्न ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि वर्तती है, इसलिये अकेले हर्षादि का ही वेदन उसे नहीं है किन्तु सुदृष्टि के बल से हर्ष-शोक के अभावरूप ज्ञायकस्वभाव का वेदन भी वर्तता है; इस प्रकार उसे अभोक्तृत्वशक्ति का निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो गया है।

अपने से भिन्न ऐसे शरीर, पैसा, अन्न, वस्त्रादि परपदार्थों का उपभोग करना तो आत्मा के स्वरूप में कभी है ही नहीं। पर का उपभोग करना अज्ञानी मानता है, वह तो मात्र उसकी भ्रमणा है, वह कहीं पर का उपभोग नहीं करता, किन्तु परोन्मुखवृत्ति से हर्ष-शोक के भाव करके अज्ञानभाव से मात्र उन्हीं का उपभोग करता है। यहाँ अभोक्तृत्वशक्ति में तो आचार्यदेव ऐसा समझाते हैं कि—वे हर्ष-शोक के भाव भी आत्मा के ज्ञायकस्वभाव से पृथक् हैं, इसलिये उन्हें भोगने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होकर अपने वीतरागी आनन्द का उपभोग करना है।

आत्मा के द्रव्य में, गुणों में या पर्याय में कहीं पर का तो उपभोग है ही नहीं।

हर्ष-शोक-चिंतादि का उपभोग आत्मा के द्रव्य-गुण में नहीं है, मात्र अज्ञानदशा में एक समय पर्यंत है।

और विकार के अभोक्तास्वरूप ऐसे त्रिकाली द्रव्य-गुण की ओर उन्मुख होने से पर्याय में से हर्ष-शोक का क्षणिक भोक्तृत्व छूट जाता है, इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से आत्मा साक्षात् अभोक्ता हो जाता है।

परवस्तु का उपभोग आत्मा को नहीं है। जिसप्रकार शरीर-स्त्री-भोजनादि अनुकूल संयोगों का उपभोग आत्मा नहीं करता, उसी प्रकार शरीर कट जाना, रोग हो जाना, इत्यादि प्रतिकूल संयोगों को भी आत्मा नहीं भोगता। मात्र हर्ष-शोक करके विकार का उपभोग करता है और उस हर्ष-शोक के समय परवस्तु निमित्त है, इसलिये 'आत्मा पर का उपभोग करता है'—ऐसा भी उपचार से कहा जाता है। वास्तव में तो पर का उपभोग करने का भाव करता है और अपने उस विकारी भाव का ही उपभोग करता है। यहाँ तो उससे भी सूक्ष्म अंतर स्वभाव की बात है कि विकार का उपभोग करने का भी आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है। शरीर कटे, उसका वेदन आत्मा को नहीं है तथा उस ओर की अरुचि का वेदन करने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु ज्ञायकस्वभाव का वेदन करना आत्मा का स्वभाव है। अज्ञानी कहता है कि 'अरे रे! कर्मों का फल भोगना पड़ता है।' किन्तु यहाँ कहते हैं कि अरे भाई! तू अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढले तो तुझे कर्मों की ओर का वेदन न रहे। जो ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर उसका वेदन नहीं

करता, वही विकार का भोक्ता होकर चार गति में परिभ्रमण करता है। आत्मा के लक्ष से हर्ष-शोक का वेदन नहीं होता, क्योंकि आत्मा का स्वभाव, विकार के उपभोग से रहित है; हर्ष-शोक आत्मा के ज्ञाताभाव से पृथक् है। कर्मों के ओर की वृत्तिवाला जीव ही हर्ष-शोक का भोक्ता होता है; इसलिये उसे कर्म का ही कार्य कहा है, अर्थात् वह आत्मा के स्वभाव का कार्य नहीं है, आत्मस्वभाव तो उसका अभोक्ता है—ऐसा बतलाया है। आत्मा अपने स्वभाव की ओर ढलकर अपनी अनंत शक्तियों की निर्मलता का अनुभव कर सकता है, किन्तु विकार का या पर का अनुभव करे, ऐसा वास्तव में आत्मा नहीं है। जो परिणति आत्मस्वभाव के साथ अभेद हुई, वह तो आत्मा है, किन्तु जो परिणति विकार के ही अनुभव में लगी रहे, उसे आत्मा नहीं कहते, क्योंकि उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है।

ग्रीष्म ऋतु में श्रीखण्ड-पूरी खाकर बँगले के बगीचे में टहल रहा हो और अपने को सुखी मानता हो, तो वहाँ आत्मा श्रीखण्ड या बगीचे आदि का तो वास्तव में उपभोग नहीं करता, और उसमें जो सुख की कल्पनारूप साताभाव है, उसका उपभोग करना ही आत्मा का स्वभाव नहीं है; तथा बगीचे में बैठा हो और कोई आकर सिर काट दे और उससे अपने को महान दु:खी माने तो वहाँ भी उस संयोग को आत्मा नहीं भोगता। हर्ष-शोक के उपभोग से रहित, ज्ञायक रहना आत्मा का स्वभाव है। अहो! ऐसे अभोक्ता स्वभाव को लक्ष में ले तो चाहे जिस संयोग में भी जीव को अपनी शान्ति का वेदन नहीं छूट सकता। स्वभाव को भूलकर, बाह्य वस्तुएँ मेरे लिये अच्छी-बुरी हैं और उनसे मुझे सुख-दु:ख होता है—ऐसी मान्यता, वह संसार का मूल है। शास्त्र में कहते हैं कि—अज्ञानी को जो अनंत दु:ख है, वह तो वास्तविक दु:ख ही है, किन्तु वह अपने को जो सुख मानता है, वह मात्र कल्पना ही है। जहाँ सुख भरा है - ऐसे ज्ञानस्वभाव के अनुभव बिना वास्तविक सुख का वेदन नहीं होता। आत्मा के स्वभाव में जो वास्तविक सुख भरा है, उसका वेदन कैसे हो और अनादिकालीन विकार का वेदन कैसे दूर हो—वह यहाँ बतलाते हैं।

शरीर, लक्ष्मी, मोटर आदि जड़ वस्तुएँ आत्मा को सुख दें—तो उसका अर्थ यह हुआ कि वे जड़ वस्तुएँ आत्मा से भी महान हैं। आत्मा में सुख नहीं है, किन्तु जड़ वस्तु उसे सुख देती है—ऐसा माननेवाला मूढ़ जीव कदापि जड़ की ओर की वृत्ति छोड़कर आत्मोन्मुख नहीं होगा,

इसलिये वह संसार में ही भटकेगा। जड़ में कहीं भी मेरा सुख नहीं है और जड़ की ओर उन्मुख होने से जो हर्षादि की वृत्ति होती है, उसमें भी मेरा सुख नहीं है; सुख तो मेरे स्वभाव में है और उस स्वभाव में अंतरोन्मुखता से ही मुझे अपने सुख का वेदन होता है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं; इसलिये संयोगों के ओर की वृत्ति को समेटकर, स्वभावोन्मुख होकर अतीन्द्रियसुख का वेदन करते-करते परम सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

देखो, यह कोई साधारण ऊपरी बात नहीं है; यह तो आत्मा के अंतर स्वभाव की अपूर्व बात है। एक बार यह बात समझले तो अनंत काल का भवभ्रमण मिट जाये—इसे समझते ही अंतर में महान वीतरागी शान्ति हो जाये। शान्ति का और दुःख से छूटने का तो यही उपाय है; अन्य किसी उपाय से जीव को शान्ति नहीं हो सकती, कोई इस शरीर में भक्तिपूर्वक चंदन का लेप करे या द्वेषपूर्वक इसे काट डाले; मीठा रस हो या कड़वा, सुगंध हो या दुर्गंध, सुन्दररूप हो या काला-कुबड़ा शरीर, कोई प्रशंसा करे या निन्दा, किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि वे सब मुझसे भिन्न हैं, मैं उन किसी का भोक्ता नहीं हूँ और उनमें किंचित् भी हर्ष-शोक हों वे भी मेरे ज्ञायकस्वभावी आत्मा से पृथक हैं; इसलिये उनका भी मैं सचमुच भोक्ता नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक ही हूँ।—ऐसी ज्ञायकदृष्टि में वीतरागता का महान बल है। एक समय की जो विकारीदशा है, उसे अंतरंग स्वभाव में ढूँढ़ा जाये तो वहाँ नहीं मिल सकती, इसलिये स्वभाव की दृष्टि में आत्मा उसका अकर्ता और अभोक्ता ही है - यह नास्ति से कहा। अस्ति से कहें तो आत्मा अपने निर्विकारी अनुभव का कर्ता-भोक्ता है। ऐसी अंतरस्वभाव की दृष्टि बिना अज्ञानी जीव कदाचित पूर्व कथित प्रसंगों में शुभराग से समता रखे, किन्तु उस समता के शुभपरिणामों के उपभोग में ही वह रुक जाता है और उसी को वास्तविक मानता है; आत्मा के अभोक्ता स्वभाव की या अतीन्द्रिय सुख की उसे खबर नहीं है।

आत्मा का अभोक्ता स्वभाव समझे तो विकार के उपभोगरहित ज्ञान-आनन्द स्वभाव की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन हो जाये और फिर ज्यों-ज्यों उस स्वभाव में लीनता होती जाये, त्यों-त्यों विकार का भोक्तृत्व भी छूटता जायेगा। जैसे—मुनिदशा में आत्मस्वभाव में लीनता से इतना भारी अभोक्तृत्व प्रगट हो गया है कि वहाँ शरीर पर वस्त्र या दो बार आहारादि के उपभोग का भाव ही नहीं रहा है; और केवलज्ञान होने पर तो पूर्ण अभोक्तृत्व प्रगट हो जाता है, वहाँ आहारादि का

उपभोग सर्वथा होता ही नहीं है। पहले से ही अभोक्तापने की साधना करते-करते वहाँ पूर्ण हो गया है। तथापि जो मुनि को वस्त्र की वृत्ति या केवली भगवान की आहारादि मानता है, उसे खबर नहीं है कि कौन-सी भूमिका में कैसा अभोक्तापना प्रगट होता है? और अपनी दशा में उसे किंचित् अभोक्तृत्व नहीं हुआ है।

अरे जीव! तेरा आत्मा तो आनन्द की खान है...उसे इस विकार का या विषयों का उपभोग नहीं हो सकता। अपने ज्ञायकस्वभाव के आनन्द का उपभोग छोड़कर अनादि काल से इन विकाररूपी विषयों का उपभोग कर-करके तेरा ज्ञानानन्द शरीर क्षीण हो गया है... इसलिये भाई! अब उस विकार का उपभोग न करके अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की सँभाल। विकार का भोक्ता होने में तेरा आनन्द-शरीर क्षीण होता है, इसलिये उस उपभोग को छोड़! विकार तेरे ज्ञानस्वभाव से पृथक् है, उसे भोगने का तेरा स्वभाव नहीं है। इसलिये अंतर में लक्ष्य करके अपने ज्ञायकस्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग कर।

बाह्य में मान-प्रतिष्ठा के हेतु चुनाव में मत प्राप्त करने के लिए लोग कितनी दौड़ धूप करते हैं! किन्तु स्वयं अपने आत्मा का मत प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते। आत्मा का मत प्राप्त कर ले तो मुक्तिपद प्राप्त हो। बाह्य में राजपद या प्रधानादि का पद तो धूल के समान है, उसमें कहीं आत्मा का हित नहीं है, वह वास्तव में आत्मा का पद नहीं है; तथापि उसके लिये कितनी दौड़ धूप करता है! यदि अंतर्दृष्टि से आत्मा को संतुष्ट करके उसका मत प्राप्त कर ले तो तीन लोक में प्रधान-उत्कृष्ट ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति हो। आत्मा का मत कैसे प्राप्त होता है? जैसा आत्मा का स्वभाव है, वैसा ही अभिप्राय में-मति में ग्रहण करे तो आत्मा का मत प्राप्त हो; किन्तु जैसा स्वभाव है, वैसा न मानकर उससे विरुद्ध माने तो उसे आत्मा का मत नहीं मिल सकता और न सिद्धपद की प्राप्ति हो सकती है। मात्र विकार के उपभोग पर जिसकी दृष्टि है, उसकी मति में आत्मा आया ही नहीं है; इसलिये आत्मा का मत उससे विरुद्ध है; वह जीव मिथ्यामति से संसार में भटकता है। एक समय जितने विकार के उपभोग से रहित तीनों काल पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव हूँ—ऐसी अंतर स्वभाव की दृष्टि करने से जो सम्यक्मति हुई, उसमें आत्मा आया है; उसे आत्मा का मत प्राप्त हो गया है अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ है, और उसके फल में उसे त्रिलोक पूज्य ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति होगी।

लोग कहते हैं कि—'अपना देश गुलाम है, गुलाम से धर्म नहीं हो सकता, इसलिये गुलामी की जंजीर तोड़ दो...' उससे कहते हैं कि अरे भाई! गुलाम से धर्म नहीं होता, यह बात सच है, किन्तु गुलामी का अर्थ क्या—उसकी तुझे खबर नहीं है। मेरे आत्मा को धर्म करने के लिये पर संयोग की आवश्यकता होती है—ऐसी पराधीनता की बुद्धि ही गुलामी है और ऐसे पराधीनबुद्धिवाले गुलाम को धर्म नहीं होता; क्योंकि उसने अपने आत्मा को स्वतंत्र नहीं माना, किन्तु देश आदि पर संयोगों का गुलाम माना है। ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ, मैं संयोग का गुलाम नहीं हूँ, मेरा धर्म संयोगाधीन नहीं है किन्तु असंग ज्ञायकस्वभाव के आधार से ही मेरा धर्म है। देश गरीब या पराधीन हो तो मैं अपने आत्मा का धर्म न कर सकूँ—ऐसी पराधीनता मुझमें नहीं है। देश स्वाधीन हो या पराधीन, किन्तु मैं चाहे जब अपने ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अपने आत्मा का धर्म (सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान-चरित्र) कर सकता हूँ। वास्तव में तो अनंत गुणों की बस्ती से भरा हुआ असंख्य प्रदेशी आत्मा ही मेरा स्वदेश है। यहाँ तो कहते हैं कि विकारभाव भी नित्य ज्ञायकस्वभावी आत्मा से पर है, उसका उपभोग करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, तो फिर लक्ष्मी आदि बाह्य पदार्थों की क्या बात?

प्रश्न : कार्तिकेयस्वामी ने द्वादशानुप्रेक्षा (गाथा-१२) में कृपण को लक्ष्मी का उपभोग कहा है! और यहाँ आप कहते हैं कि आत्मा उसका अभोक्ता है—यह कैसे?

उत्तर : वहाँ तो जो जीव लक्ष्मी की लोलुपता से तीव्र लोभ परिणाम में डूब रहा है, उसका ममत्व परिणाम कुछ कम कराने के लिए लक्ष्मी का उपभोग करना कहा है। लक्ष्मी का संयोग अध्रुव जानकर, उसके प्रति ममत्व परिणामों को कुछ कम करे और किंचित् वैराग्य परिणाम करे—उस हेतु से वहाँ उपदेश है; किन्तु उतने मात्र से धर्म हो जाता है—ऐसा वहाँ नहीं बतलाना है। यहाँ तो आत्मा को धर्म कैसे हो - उसकी बात है; इसलिये आत्मा का मूल-स्वभाव क्या है, वह बतलाते हैं। आत्मा पर का अभोक्ता है, यह बात लक्ष में रखकर वहाँ निमित्त से उपदेश है—ऐसा समझना चाहिए।

आत्मस्वभावोन्मुख होने से विकार का भी अनुभव नहीं रहता, तो फिर शरीरादि के उपभोग की क्या बात? शरीर में रोग होने पर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि—'हाय! हाय! अब

मेरी मृत्यु हो जायेगी!' किन्तु भाई रे! मरता कौन है? यह शरीर तो तुझसे इस समय भी पृथक् है, शरीर के रोग का उपभोग तुझे नहीं है, इसलिये शरीरबुद्धि छोड़ और अविनाशी चैतन्यस्वभाव को लक्ष में ले, तो तेरा मृत्यु का भय दूर हो जाये। देह छूट जाये तो उससे कहीं आत्मा नहीं मर जाता। क्या सूर्य मरता है? चन्द्र मरता है? नक्षत्र मरते हैं? जगत के परमाणु मरते हैं? जीव मरता है? इन किसी का मरण नहीं होता। जगत में अनादि से जितने जीव हैं और जितने परमाणु हैं, उतने ही सदैव रहते हैं; उनमें से एक भी जीव या एक भी परमाणु कभी कम होता ही नहीं। आत्मा त्रिकाल अपने ज्ञानास्वभाव से जीवित ही हैं; विकार एक क्षणपर्यंत का ही है, उसका दूसरे क्षण मरण (अभाव) हो जाता है। इसलिये उस विकार के अनुभव की बुद्धि छोड़ और आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनुभव कर, तो मरणरहित ऐसी सिद्धदशा प्रगट हो। इसके अतिरिक्त विकार के उपभोग की विपरीत दृष्टि में तो अनन्त मरण कराने की शक्ति विद्यमान है। कालकूट सर्प का विष तो एक बार मृत्यु करता है (—और वह भी आयु पूर्ण हो गई हो तब), किन्तु विपरीतदृष्टिरूपी मिथ्यात्व का विष तो संसार में अनंत मरण कराता है। इसलिये हे जीव! अनंत चैतन्यशक्ति से परिपूर्ण अपने अमृतस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसके अनुभव का उद्यम कर, वही आत्मा को अनंत मरण से बचानेवाला है।

किंचित् प्रतिकूलता आये अथवा चिन्ता हो वहाँ तो, अरे रे! मेरा आत्मा चिन्ता के बोझ से दब गया!—ऐसा अज्ञानी को लगता है... ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई! चिन्ता के बोझ से दब जाये—ऐसा तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है; तेरे आत्मा में ऐसा अभोक्ता स्वभाव है कि वह चिन्ता के परिणाम को नहीं भोगता... इसलिये तू आकुलित न हो... चिन्ता के अभोक्ता ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में ले। ज्ञानस्वभाव के लक्ष से तुझे ज्ञातापरिणाम के अनाकुल आनन्द का वेदन होगा; उस आनन्द का ही भोक्ता होना तेरा स्वभाव है। कभी-कभी ज्ञानी को भी चिन्ता परिणाम होते हैं, किन्तु ऐसे आनन्दस्वभाव के वेदन की अधिकता में उन्हें चिन्ता की अधिकता कभी नहीं होती; इसलिये उन्हें उलझन नहीं होती, शंका नहीं होती। वे सचमुच चिन्ता या हर्ष के भोक्ता नहीं हैं, उनका भोक्तृत्व तो उनके विलीन हो गया है; उन्हें तो आनन्द का भोक्तृत्व है।

पुनश्च, हर्ष-शोक के जो परिणाम हैं, वे ज्ञाता-परिणामों से पृथक् ही हैं। इसलिये ज्ञानी

उनका भोक्ता नहीं है किन्तु सदा ज्ञाता ही है। उसे हर्ष शोक के अल्प परिणाम होते हैं, उनमें वह तन्मय नहीं होता; यदि उनमें तन्मय हो जाये तो उसका अभोक्तृत्व नहीं रहता, अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है। अज्ञानी हर्ष-शोकादि में तन्मय होकर उन्हीं का उपभोग करता है, उनसे पृथक् ज्ञानस्वभाव का किंचित् वेदन उसे नहीं रहता। क्षणिक विकार जितना ही अपने को मानकर जो उसी का भोक्ता होता है, वह जीव अनंत धर्मों के पिण्डरूप अनेकांत -स्वभाव से हटकर एकांत की ओर ढला है; इसलिये उसे एकांत अशुद्ध आत्मा ही भासित होता है। आत्मा क्षणिक विकार के उपभोग जितना नहीं है किन्तु त्रिकाल उसका अभोक्ता है, अर्थात् आत्मा ज्ञान-आनन्दादि अनंत शक्तियों का पिण्ड है; इसप्रकार अनेकांतस्वरूप, अनंत शक्ति का पिण्ड आत्मा बतलाकर अज्ञानी को एकांतबुद्धि छुड़ाकर आत्मा के स्वभाव में ले जाने की यह बात है। भाई! तू अपनी आत्मशक्ति का विश्वास कर, तेरी शक्ति छोटी (क्षणिक विकार जितनी) नहीं है, तेरी शक्ति तो विशाल है, तेरा आत्मा अनंत शक्ति से महान है; विकार का अभोक्ता होकर स्वभाव की शान्ति का उपभोग करने की तुझमें शक्ति है; और जब मुझमें ही ऐसी शक्ति है तो दूसरे की तुझे क्या आवश्यकता? इसलिये तू अपनी शक्ति का विश्वास कर, तो उस शक्ति के अवलम्बन से शान्ति प्रगट हो और अशान्ति का वेदन छूट जाये। अपनी शक्ति के अविश्वास के कारण ही तूने बाह्य में भटककर संसार में परिभ्रमण किया है। तुझे स्वयं अपनी शक्ति का विश्वास न आये तो दूसरा कोई तुझे शान्ति नहीं दे सकता, क्योंकि तेरी शान्ति दूसरों के पास नहीं है।

बाह्य में संयोग-वियोग आएँ, वहाँ हर्ष-शोक करके अज्ञानी उनके वेदन में इसप्रकार एकाकार हो जाता है कि उनसे भिन्न आत्मा के अस्तित्व का उसे भान ही नहीं रहता। किंचित् प्रतिकूलता आये, वहाँ तो मानों आत्मा खो ही गया। किन्तु भाई! संसारी को ऐसे संयोग-वियोग नहीं आयेंगे तो क्या सिद्ध को आयेंगे? सिद्ध भगवान को संयोग-वियोग या हर्ष-शोक नहीं होते। निचलीदशा में वे होते हैं; किन्तु उनके होने पर भी मैं तो उनसे भिन्न ज्ञानस्वभावी सिद्धसमान हूँ; जिसप्रकार सिद्धभगवान का आत्मा संयोग-वियोग और हर्ष-शोक से अत्यन्त पृथक् है, उसी प्रकार मेरा आत्मस्वभाव भी उनसे पृथक् है; मेरा निजभाव तो ज्ञानमात्र ही है; इसप्रकार शुद्ध आत्मा को ध्येयरूप रखकर उस ओर सन्मुख हो तो उसका परिणमन सिद्धदशा की ओर होता रहे;

विकार का वेदन प्रति क्षण दूर होता जाये और सिद्धभगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन का विकास हो। ऐसी साधकदशा है और यही धर्म है।

यह आत्मा की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। इन शक्तियों के वर्णन द्वारा आत्मा का स्वभाव बतलाना है। यह बाईसवीं शक्ति कहती है कि आत्मा समस्त कर्मों की ओर के भावों का अभोक्ता है। देखो, कर्म की १४८ प्रकृतियों में से घातिकर्म, वेदनीय, गोत्र तथा तीर्थंकरनामकर्म आदि ७८ प्रकृतियों को 'जीव विपाकी' माना है, और यहाँ कहते हैं कि जीव उनका अभोक्ता है। वहाँ गोम्मटसार आदि में तो जीव की उस-उस प्रकार की अशुद्ध पर्याय के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाने के लिये कथन है और यहाँ निश्चयनय द्वारा जीव का शुद्धस्वभाव बतलाना है। जीव के शुद्ध ज्ञायकस्वभाव में विकार का या कर्म का पाक है ही नहीं; जीव के स्वभाव में तो ज्ञान और आनन्द का ही विपाक होता है।

सातवें नरक में किसी को सम्यक्त्व हो तो वह भी ऐसा निःशंक जानता है कि इस नरक के संयोग का अथवा उस ओर के असाताभाव का उपभोग मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं है; उसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि में रहनेवाले जीव भी उस अनुकूल संयोग से अथवा उस ओर के साताभाव के वेदन से अपने ज्ञायकस्वभाव का पृथक् ही अनुभव करते हैं।

देखो भाई! बाह्य संयोग-वियोग का प्रेम छोड़कर आत्मा के स्वभाव का प्रेम करना चाहिये। जिसके प्रति प्रेम होगा, उसी ओर वृत्ति जायेगी। जिसे आत्मा का सच्चा प्रेम हो, उसे आत्मा समझ में न आए—ऐसा नहीं हो सकता। आत्मस्वभाव का प्रेम करके उसकी श्रद्धा ज्ञान और अनुभव करना ही अनंत मरण से आत्मा को बचाने का उपाय है।

एक के बाद एक पुत्री का जन्म हो तो खेद करता है और पुत्र उत्पन्न हो तो हर्षित होता है... किन्तु यहाँ कहते हैं कि उस पुत्री या पुत्र का उपभोग करनेवाला तो आत्मा नहीं है और उस ओर के शोक या हर्ष-परिणाम को भोगने का भी तेरा स्वभाव नहीं है। उससे पार तेरा ज्ञायकस्वरूप है; उस स्वरूप को श्रद्धा में ले तो तेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्दरूपी पुत्र का जन्म हो। उस अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करना आत्मा का स्वभाव है।

कोई तम्बूरे के तारों को झनझनाकर भगवान की भक्ति करता हो तो वहाँ अज्ञानी को ऐसा

लगता है कि इस भक्ति से इसे धर्म होगा और तीर्थंकरनामकर्म बँध जायेगा! किन्तु उसे भान नहीं है कि राग, वह धर्म नहीं है और सम्यग्दर्शनरहित अकेले राग से किसी को तीर्थंकरनामकर्म का बंध नहीं होता। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है और राग के उपभोग में ही लीन हो रहा है, वह तो मूढ़ है। ऐसे जीव को कभी तीर्थंकरनामकर्म का बंध नहीं होता। सम्यक्त्वी धर्मात्मा राग के वेदन को आत्मा के स्वभाव से पृथक् जानते हैं। आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के वेदन की और राग के वेदन की जाति अत्यन्त भिन्न है—ऐसा वे जानते हैं, इसलिये राग के वेदन में कभी एकाकार नहीं होते; स्वभाव के वेदन में एकाकार होते जाते हैं और राग का वेदन छूटता जाता है—आत्मा की अभोक्तृत्वशक्ति का ऐसा परिणमन उनके उल्लसित होता है।

इस प्रकार अभोक्तृत्वशक्ति का निर्मल परिणमन होते-होते जहाँ केवलज्ञान और परिपूर्ण आनन्द का उपभोग प्रगट हुआ, वहाँ हर्ष-शोक का किंचित् भोक्तृत्व नहीं रहा; तथा आहारादि के भोक्तृत्व में निमित्त हो, ऐसी अशुद्धता भगवान को न रही। अतीन्द्रिय-आनन्द का पूर्ण उपभोग हो जाने पर भी केवली प्रभु को आहारादि का निमित्त-भोक्तृत्व भी होता है- ऐसा जो मानता है, उसे केवली भगवान की अभोक्तृत्वदशा का अथवा पूर्ण आनन्द का भान नहीं हैं और अपने आत्मा के अभोक्तापने की भी उसे खबर नहीं है। अरे, भगवान को पूर्ण आनन्द प्रगट हो गया, वहाँ आहार कैसा? पूर्ण आनन्द हो, वहाँ आहार नहीं होता। हाँ, अभी वहाँ योग का कंपन हो सकता है, अर्थात् दिव्यध्वनि का निमित्तपना हो सकता है किन्तु आहार का निमित्तपना कभी नहीं हो सकता। अहो! जहाँ आनन्द का पूरा अनुभव हो गया, एक समय का उपयोग पूर्ण हो गया, परिपूर्ण अतीन्द्रियभाव विकसित हो गया, वहाँ इन्द्रिय विषयों का भोक्तृत्व क्यों होगा?—नहीं हो सकता।

ज्ञानस्वरूपी वीतरागी अभोक्तास्वभाव पर साधक की दृष्टि है और पर्याय में हर्ष-शोक का अल्प वेदन भी है; इसलिये उस साधक को तो अभोक्तापना मुख्य और भोक्तापना गौण—ऐसा मुख्य-गौणपना होता है; किन्तु केवली भगवान को ऐसा मुख्य-गौणपना नहीं है, क्योंकि उन्हें तो किंचित् भी हर्ष-शोक का भोक्तृत्व रहा ही नहीं है।

अब, केवली भगवान को जिसप्रकार हर्षादि के भोक्तृत्व का सर्वथा अभाव है, उसी

प्रकार उन्हें योग का कंपन या वाणी का योग भी हो ही नहीं सकता—ऐसा नहीं है। केवलज्ञान के साथ आहार होने में विरोध है किन्तु केवलज्ञानी के साथ योग का कंपन होने में कोई विरोध नहीं है। 'केवलज्ञानी को ज्ञान और आनन्दादि गुणों का शुद्धपरिणमन हो गया, वहाँ अब अन्य किसी गुण का विभावपरिणमन हो ही नहीं सकता, अथवा केवलज्ञान के पश्चात् वाणी हो ही नहीं सकती'—ऐसा जो मानता है, उसे केवलज्ञान की खबर नहीं है; तथा ज्ञान-आनन्द-योग आदि गुणों में जो कथंचित् गुणभेद है, उसे भी वह नहीं जानता; इसलिये वह एकांतवादी मिथ्यादृष्टि है, और केवलज्ञान के पश्चात भी जो आहार-जल आदि का होना मानता है, उसे केवली भगवान के अथवा केवली-समान अपने अभोक्तास्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये उसके अभोक्तृत्वशक्ति का विपरीत परिणमन है, अर्थात् वह विकार के और इन्द्रिय विषयों के ही भोक्तृत्व में वर्तता है; चैतन्य के आनन्द का उपभोग उसके अंशतः भी नहीं है। और ज्ञानी तो, 'मेरे ज्ञायकस्वभाव में विकार का किंचित् भी भोक्तृत्व नहीं है'—ऐसा जानता हुआ उस स्वभाव के आधार से विकार के उपभोग का सर्वथा अभाव करके पूर्ण आनन्द का भोक्ता हो जाता है।

—यहाँ बाईसवीं अभोक्तृत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

ब्रह्मचर्य और तत्त्वज्ञान

[ब्रह्मजीवन का अद्‌भुत आह्लाद कब आता है ?]

(१) ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मस्वरूप में रमणता।

— ब्रह्मचारी अर्थात् आत्मा का रंगी और विषयों का त्यागी।

— विषयों का त्यागी वही हो सकता है जो उनमें सुख न मानता हो।

— विषयों में सुख वही मानता है कि जिसे विषयों से निरपेक्ष ऐसे आत्मसुख का लक्ष न हुआ हो।

(२) जिस प्रकार एक स्पर्शेन्द्रिय के विषय में सुख नहीं है; उसीप्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी किन्हीं भी विषयों में आत्मा का सुख नहीं है; सुख तो आत्मा में ही है;—ऐसा जानकर सर्व विषयों से सुखबुद्धि दूर हो और असंगी आत्मस्वभाव की रुचि हो—तभी वास्तविक ब्रह्मचर्य जीवन होता है। जितना आत्मिक सुख का अनुभव है, उतने ही अंश में ब्रह्मचर्य जीवन है। जितने अंश तक ब्रह्मस्वरूप आत्मा में चर्या (परिणमन) हो, उतने अंश में ब्रह्मचर्य जीवन है। जितनी ब्रह्म में चर्या हो उतना ही पर विषयों का त्याग होता है।

— जो जीव पर भावों तथा पर विषयों से सुख मानता हो, उस जीव के ब्रह्मचर्य जीवन नहीं होता; क्योंकि उसे विषयों के संग की भावना पड़ी है।

(३) इससे ब्रह्मचर्य और तत्त्वज्ञान का मेल सिद्ध हुआ। जिस जीव को तत्त्वज्ञान हो, आत्मा की रुचि हो, वह कभी किसी भी पर विषय में सुख नहीं मानता। रुचि में-श्रद्धा में-भावना में तो उसने अपने आत्मस्वभाव का संग करके सर्व पर विषयों का संग छोड़ दिया है। और फिर स्वभाव की रुचि के बल से ज्यों-ज्यों रागादि पर परिणति टलती जाती है, त्यों-त्यों उसके निमित्तभूत बाह्य विषय भी सहज ही छूटते जाते हैं। इस क्रम से आत्मिक ब्रह्मचर्य जीवन में आगे बढ़ते-बढ़ते परिपूर्ण अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करके वह जीव ब्रह्मस्वरूप परमात्मा हो जाता है।

(४) शरीर के स्पर्श में जिसे सुख की मान्यता दूर हो गई हो, वही उससे विरक्त होकर ब्रह्मचर्य जीवन जी सकता है। जिसे शरीर के स्पर्श विषय में से सुखबुद्धि छूट गई हो, उस जीव की सुखबुद्धि शब्द-रूप-रस-गंध-वर्ण आदि विषयों में से भी अवश्य दूर हो ही जाती है। जिसे एक भी इन्द्रिय में से सचमुच सुखबुद्धि दूर हो जाये, उसे पाँचों इन्द्रियों में से दूर हो ही जाती है। और

पाँच इन्द्रियों के विषयों में से सुखबुद्धि उसी को दूर होती है कि जिसने सत्पुरुषों के समागम से पाँच इन्द्रियों के विषयों से पार अतीन्द्रिय आत्मसुख लक्ष्यगत किया हो।—इसप्रकार जिसने आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद लक्षगत किया हो, वही इन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर ब्रह्मजीवन का सच्चा आह्लाद ले सकता है।

(५) दूसरे प्रकार से कहा जाये तो सत्यग्दृष्टि संत ही ब्रह्मजीवन की सच्ची मौज मानते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन स्वद्रव्य का विषय करनेवाला है। जो स्वद्रव्य को विषय नहीं करता और परद्रव्य के साथ ही विषय करता है, उसे कभी विषयों की आकुलता दूर नहीं होती और ब्रह्मजीवन का आनंद नहीं आता।

मेरे असंग चैतन्यतत्त्व को किसी परद्रव्य का किंचित् भी संग नहीं है; परद्रव्य के संग से मुझमें सुख नहीं है, किन्तु परद्रव्य के संग बिना ही अपने स्वभाव से मेरा सुख है—इसप्रकार जिस जीव ने अपने अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव की रुचि और लक्ष किया है तथा सर्व इन्द्रिय विषयों की रुचि छोड़ दी है, वह भव्य जीव आत्मिक आह्लाद से भरपूर ऐसा ब्रह्म जीवन जीता है और ऐसे सम्यक्त्वी धर्मात्मा भगवान के समान है—ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

—इसप्रकार, सचमुच आत्मस्वभाव की रुचि के साथ ही ब्रह्मचर्यादि सर्व गुणों के बीज पड़े हैं। इसलिये सच्चा ब्रह्मजीवन जीने के अभिलाषी जीवों का प्रथम कर्तव्य यह है कि अतीन्द्रिय आनंद से भरपूर तथा सर्व पर विषयों से रिक्त ऐसे अपने आत्मस्वभाव की रुचि करना चाहिये... उसका लक्ष्य करना चाहिये... उसका अनुभव करके उसमें तन्मय होने का प्रयत्न करना चाहिये।

हे जीव! अपनी बुद्धि आत्महित में एकाग्र कर।

लाखों का एक-एक क्षण जा रहा है...

जो वन में एकाकी वास करते थे, आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते जिनका जीवन व्यतीत होता था, जिनके शरीर पर वस्त्र का ताना भी नहीं था, और जो एक पाई का भी परिग्रह नहीं रखते थे—ऐसे निस्पृह-वीतरागी संत की यह वाणी है; जीवों को परमहितरूप ऐसा यह उपदेश है। कहते हैं कि—अरे जीव! प्रतिक्षण आयु घट रही है और तू बाह्य में लक्ष्मी आदि की वृद्धि के हेतु अपना समय गँवा रहा है, किन्तु आत्मा के ज्ञान-आनन्द की वृद्धि कैसे हो, उसका तुझे विचार तक नहीं आता। अरे अविवेकी! तुझे अपने जीवन से भी अधिक प्यारी लक्ष्मी है! इसलिये तू लक्ष्मी के लिए जीवन गँवा रहा है?—धिक्कार है तेरी मूढ़-बुद्धि को! लाखों-करोड़ों रुपये देने पर भी इस मनुष्य जीवन का एक क्षण मिलना दुर्लभ है; ऐसे जीवन को तू फूटी बादाम की भाँति व्यर्थ गँवा रहा है। हे वत्स! अपने हित के उपाय का विचार कर!

कोई ऐसा विचार करता है कि—'इस समय तो लक्ष्मी एकत्रित कर लूँ, फिर उसका दानादि में उपयोग करके पुण्य उपार्जन करूँगा'—तो वह भी मूढ़ जीव का विचार है। अरे जीव! पाप करके लक्ष्मी एकत्रित करने के बदले इसी समय ममत्व कम करके आत्महित का उपाय कर! दानादि के बहाने इस समय तो तू अपने ममत्व का पोषण कर रहा है। जैसे, कोई व्यक्ति ऐसा विचार करे कि पहले शरीर पर कीचड़ लपेट लूँ और फिर स्नान कर लूँगा—तो वह अविवेकी ही है; उसीप्रकार जो ऐसा विचार करता है कि भविष्य में दानादि करने के लिये वर्तमान में व्यापारादि करके पैसा इकट्ठा कर लूँ और फिर पात्र दानादि कार्यों से पाप धो डालूँगा,—तो वह भी अविवेकी है; वर्तमान में उसके जो पाप और लोभ के भाव की पुष्टि हो रही है, उसे वह नहीं देखता। अरे मूढ़! इस समय पाप करके फिर पुण्य करने को कहता है तो उसकी अपेक्षा इसी समय पापभाव छोड़कर अपने उपयोग को आत्महित में एकाग्र कर न! कीचड़ लपेट कर फिर नहाने की अपेक्षा पहले से कीचड़ न लपेटना ही अच्छा है!—उसीप्रकार इससमय पाप करके फिर पुण्य

करेंगे—ऐसी विपरीत भावना के बदले, इसीसमय पाप से निवृत्त होकर अपने चित्त को धर्म में युक्त कर न!

धर्मात्मा को पुण्य के प्रताप से सहज ही लक्ष्मी आदि की प्राप्ति हुई हो तो उसे वह पात्रदान-यात्रा-जिनबिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सवादि में लगाता है; किन्तु 'मैं व्यय करने के लिये लक्ष्मी कमाऊँ'—इसमें तो ममत्व का पोषण है। यदि वास्तव में राग की मंदता हो तो जो प्राप्त हुआ है, उसी में से ममत्व कम कर न!

जैसे, कोई जीव यह माने कि - 'केवली भगवान ने अनंत भव देखे होंगे तो एक भी भव कम नहीं होगा'—तो ऐसा कहनेवाले की दृष्टि भव पर और भव के कारणरूप विकार पर ही पड़ी है, किन्तु केवलज्ञान के कारणरूप ज्ञायकस्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है; वह केवली भगवान का नाम लेकर भी मात्र विपरीतदृष्टि का ही पोषण कर रहा है। उसी प्रकार जो जीव ऐसा कहता है कि—'भविष्य में दानादि द्वारा पुण्य करने के लिये मैं इस समय लक्ष्मी कमा लूँ'—तो वह भी पुण्य के बहाने मात्र ममत्व का ही पोषण कर रहा है, वास्तव में लक्ष्मी के प्रति उसका लोभ कम नहीं हुआ है। पाँच लाख मिले हैं, इन्हें बढ़ाकर दस लाख कर दूँ और फिर दान में व्यय करूँगा—ऐसा कहता है, तो हे मूढ़! इस समय जो पाँच लाख हैं, उनमें से एक लाख का ममत्व कम कर! ममत्व तो कम करना नहीं है और भविष्य में पुण्य करने की ओट लेकर तू उलटा ममत्व बढ़ाता है, वह तेरा विवेक है?

प्रश्न—लक्ष्मी एकत्रित करने के पीछे हमारा भाव तो उसे धर्म कार्यों में खर्च करने का है, इसलिये तो हमारी शुद्ध वृत्ति है न?

उत्तर—लक्ष्मी आदि कमाने का भाव पापवृत्ति के बिना आता ही नहीं। शुद्ध वृत्ति हो तो लक्ष्मी आदि प्राप्त करने का भाव हो ही नहीं सकता। जिसप्रकार नदी में बाढ़ आने पर उसमें चारों ओर का मैल भी साथ ही आता है; उसीप्रकार लक्ष्मी का ढेर इकट्ठा करने की वृत्ति में पापभाव भरा ही है। यदि पाप का भाव भी न हो—लोभ कषाय न हो—तो, आत्महित का उद्यम क्यों नहीं करता? और लक्ष्मी प्राप्त करने का उद्यम क्यों करता है? लक्ष्मी एकत्रित करने का उद्यम करता है—दिन-रात उसी में उपयोग को लगता है और फिर कहता है कि हमें पापभाव नहीं है—तो वह तेरी दुर्बुद्धि है। इसलिये हे भाई! संत तुझे हित का उपदेश देते हैं कि—ऐसा अवसर मिला, तो अब अपनी बुद्धि को आत्महित के कार्यों में लगा... कुछ निवृति लेकर चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख

हो... जिससे तेरा हित होगा। तेरे जीवन का एक-एक क्षण लाखों का जा रहा है; आत्महित के लिये उसका उपयोग करके उसे सफल कर। यदि चैतन्यहित की परवाह न की और लक्ष्मी एकत्रित करने में ही जीवन बिता दिया तो तेरा जीवन व्यर्थ चला जायेगा... और फिर संसार में अनंत काल तक भी ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। हित के लिये यह अमूल्य अवसर आया है, इसलिये सावधान होकर अपने हित का उद्यम कर।

[—इष्टोपदेश के प्रवचन से]

हित का उपदेश

यह इष्टोपदेश है; आत्मा का हित काहे में है—उसका यह उपदेश है। मोक्षपद आत्मा को परम हितरूप है; इसके अतिरिक्त बाह्य संयोगों में आत्मा का सुख नहीं है।

अज्ञानी जीव बाह्य संयोगों में सुख मानता है; उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! यदि उन संयोगों में सुख होता तो तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि महापुरुष उस राज्यादि वैभव का परित्याग करके क्यों चले जाते? तीर्थंकर जैसे महापुरुष, संसार के अपार वैभव को छोड़कर साधु बने और आत्मसाधना में एकाग्र हुए; क्योंकि उन्होंने संयोग में सुख नहीं देखा; उन्होंने देखा कि आत्मा के स्वभाव में ही सुख है। संयोग में तो सुख नहीं है और संयोग की ओर के आश्रय में भी कहीं सुख नहीं है, उसमें आकुलता ही है। एक प्रकार की आकुलता दूर नहीं होती, वहाँ दूसरी अनेक प्रकार की आकुलता उत्पन्न होती है।

शिष्य प्रश्न करता है कि—अनुकूल संयोगों का अंत हो जाये और प्रतिकूलता आये, तब तो सुख नहीं है, किन्तु जब तक अनुकूल सामग्री का संयोग रहे, तब तक तो सुख है न?

उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! संयोग के ओर की तृष्णा, वह दु:खों की ही जन्मदात्री है। 'मैं चैतन्यतत्त्व हूँ; मुझमें ही मेरा सुख है'—उसे चूककर, परसंयोग में सुखबुद्धि करता है, वह मूढ़ता है और वह महान दु:ख है। अपना सुख पर में क्यों होगा? आत्मवस्तु स्वयं ही सुखस्वरूप है, उसका सुख कहीं बाह्य में नहीं है।

चैतन्य सम्पदा को चूककर अज्ञानी जीव बाह्य की जड़ सम्पत्ति में सुख मानता है, वह मूढ़ता है। भाई, तेरे आत्मा में सर्वज्ञता, अतीन्द्रिय आनन्द आदि सिद्धभगवान जैसा वैभव भरा है, उसी में तेरा सुख है। तेरी स्वरूप सम्पदा के निकट चक्रवर्ती के राज्य की सम्पत्ति भी तुच्छ है। इसलिये अपनी स्वरूप सम्पदा को पहिचानकर उस ओर उन्मुख होकर, उसका उपभोग कर, उसी में तेरा सुख है। प्रभु! एक बार अंतर में दृष्टि तो कर! अपने आत्मा का विश्वास तो कर कि मेरा आत्मा ही सुखस्वरूप है, उसमें अन्तर्मुख होने में ही मेरा हित है, इसके अतिरिक्त बहिर्मुख वृत्ति में कहीं मेरा हित नहीं है।

अनंत काल में दुर्लभ ऐसा जो मनुष्य जीवन है, उसका अल्पकाल है, वह कहीं नित्य स्थायी नहीं रहेगा; तथापि अज्ञानी-अविवेकी जीव बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुए उस मनुष्य अवतार को विषय-कषायों के हेतु नष्ट कर देता है। आत्मा का हित कैसे हो? और जन्म-मरण के दु:खों से जीव का उद्धार कैसे हो—उसका वह विचार भी नहीं करता।

अज्ञानी जीव, लक्ष्मी आदि समग्री में सुख मानता है और लक्ष्मी आदि प्राप्त करने के हेतु काल गँवाता है। लक्ष्मी कैसे मिले और उसमें कैसे वृद्धि हो—उसी की चिन्ता में जीवन नष्ट करता है; किन्तु लक्ष्मी के पीछे इस मनुष्य-जीवन का अमूल्य समय चला जाता है—उसकी उसे परवाह नहीं है; इसलिये मनुष्य जीवन की अपेक्षा भी उसे लक्ष्मी की तीव्र तृष्णा है। लक्ष्मी के लिये वह जीवन गँवा देता है किन्तु इतना विचार नहीं करता कि अरे! यह जीवन तो चला जा रहा है, मैंने अपना क्या हित किया? मेरा हित कैसे हो—उसका कुछ उपाय करूँ।

लक्ष्मी आदि विषयों के ममत्व में मूढ़ जीव को कोई संकट दिखाई नहीं देता। दस वर्ष में दस लाख रुपये बढ़ गये—ऐसा देखता है, किन्तु जीवन के दस वर्ष व्यर्थ चले गये—यह उसे नहीं सूझता। वर्तमान सुविधाओं में इसप्रकार मूर्छित हो गया है कि सिर पर झूमते हुए अनंत जन्म-मरण के दु:खों को नहीं देखता। जिसप्रकार चारों ओर फैले हुए घोर जंगल में आग लगी हो; बीच में एक ऊँचे पेड़ पर चढ़ा हुआ आदमी उसे देख रहा हो; चारों ओर के हिरन और खरगोश आदि पशु उस

अग्नि में जल रहे हों, सैंकड़ों जीव भयभीत होकर इधर-उधर भाग रहे हों.... तो वह पेड़ पर बैठा हुआ मनुष्य विचार करता है कि इस जंगल के सब जीव आपत्ति में फँसे हैं।—इसप्रकार दूसरों की आपत्ति को देखता है, किन्तु अपनी आपत्ति नहीं देखता है कि—यह जंगल चारों ओर से सुलगता आ रहा है और कुछ ही देर में इस पेड़ को भस्म कर देगा!—इसप्रकार अपने ऊपर झूमते हुए संकट को नहीं देखता और न उससे बचने का उपाय करता है। उसीप्रकार यह संसाररूपी वन जन्म-जरा-मरण के दु:खों से चारों ओर से सुलग रहा है; संयोग-वियोग के राग-द्वेष से जीव दु:खी हो रहे हैं.... वहाँ मूढ़ जीव दूसरों की लक्ष्मी आदि का वियोग आँखों से देख रहा है, दूसरों को मरते देख रहा है, किन्तु ऐसे ही दु:ख अपने ऊपर झूम रहे हैं—उन्हें वह नहीं देखता। लक्ष्मी आदि के संयोग से अपने को सुखी मान बैठा है, उसे दु:ख भासित नहीं होता। ऐसे जीव को सम्बोधन करते हुए श्रीमद् राजचन्दजी कहते हैं कि—

'लक्ष्मी अने अधिकार बधतां शुंवध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुम्ब के परिवारथी वधवापणुं अे नय ग्रहो?
वधवापणं संसारनुं नरदेहने हारी जवो,
अेनो विचार नहीं अहो हो! एक पल तमने हवो।'

अरे जीव! एक क्षण विचार तो कर कि 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ; बाहर की किसी वस्तु से मेरी वृद्धि नहीं है। संयोगों की वृद्धि से मेरी वृद्धि नही है; संयोगी वस्तुएँ ही मुझसे पृथक् हैं; मेरी वृद्धि तो मेरे ज्ञान और आनन्द से है।' संयोगों के बढ़ने से आत्मा की वृद्धि मानना, वह तो मनुष्य देह को हार जाने के समान है।—भाई! एक क्षण अंतर में ऐसा विचार तो कर!

तेरे ज्ञानस्वरूप आत्मा के साथ यह संयोग एकमेक नहीं है। या तो तेरे जीते हुए ही वे तुझे छोड़कर चले जायेंगे, अथवा मरते समय तू उन्हें छोड़कर चला जायेगा, इसलिये उनसे भिन्नत्व का भान कर। लक्ष्मी, शरीर, स्त्री आदि संयोगों में सुख की मान्यता छोड़ दे और ऐसी प्रतीति कर कि सुख तो मेरे चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही है। अंतर में संयोग से भिन्नता का विचार कर कि—मेरा आत्मा सब से पृथक्, अकेला उत्पन्न हुआ है और अकेला ही जायेगा; संसार में भी अकेला ही भटकता है और मोक्ष भी अकेला ही प्राप्त करेगा।—इसप्रकार भिन्नता का भान करके अपने आत्मा के हित का उपाय सोच!

अरे रे! मेरा आत्मा मृत्यु के मुख में खड़ा है। मृत्यु के मुख में पड़े हुए इस जीव को जगत में

अन्य कोई शरणभूत नहीं है। अपने आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान करके स्थिर रहूँ, वही मुझे मृत्यु के मुख से बचानेवाला है—वही एक शरणभूत है; इसके सिवा कोई संयोग मुझे शरणभूत नहीं हो सकते।—एकबार आत्मा में ऐसा निर्णय करे तो भी कितनी शांति हो जाये! अपने हित का उपाय उसके हाथ में आ जाये।

'जिसप्रकार संयोगों की अनुकूलता में मेरा सुख नहीं है, उसीप्रकार चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग मुझे दुःख का कारण नहीं है। जिसने अनुकूल संयोग में सुख माना, वह प्रतिकूलता में दुःखी हुए बिना रही रहेगा, क्योंकि उसकी वृत्ति ही संयोग की ओर है। अनुकूल संयोग कहीं नित्य नहीं रहता, वह तो एक क्षणमात्र में बदल जायेगा; इसलिये उसके आश्रय से आत्मा की शांति नहीं है। आत्मा का स्वभाव स्वयं सुखस्वरूप है, वह नित्य रहनेवाला है; इसलिये उसी के अवलम्बन से आत्मा का हित और शांति है।'—इसप्रकार पहले हित का उपाय खोजकर उसका निर्णय करना चाहिये।—ऐसा संतों का इष्टोपदेश है, संतों ने हित मार्ग का ऐसा उपदेश दिया है।

अरे, मेरा हित काहे में है! अभी तक मैंने अपना हित नहीं किया, किन्तु अहित करके व्यर्थ जीवन बिताया; अब मेरा हित कैसे हो?—इसप्रकार अंतर में आत्महित की जिज्ञासा जागृत होना चाहिये। लक्ष्मी में वृद्धि हुई, उसे मूढ़ जीव देखता है, किन्तु आयु कम हुई, उसे नहीं देखता। जहाँ मृत्यु का समय आयेगा, वहाँ लक्ष्मी शरणभूत नहीं होगी; वैद्य-डॉक्टर नहीं बचा सकेंगे; कोई कुटुम्बीजन साथ न आयेगा; उस समय तो तुझे अपना आत्मा ही शरणभूत होगा, वही शांति देगा, वही तेरे साथ आयेगा, इसलिये आत्मा क्या वस्तु है?—उसकी पहिचान कर।

[- इष्टोपदेश प्रवचन से]

आत्मा की लगन

[श्री समाधिशतक गाथा ५३ के प्रवचन से]

जो आत्मार्थी है, जिसे आत्मा का अनुभव करने की लगन लगी है, उसे बारम्बार आत्मस्वरूप की ही भावना करना चाहिये। संतों के पास जाकर उसी का श्रवण, उसी के प्रश्न, उसी की चर्चा, उसी की इच्छा-भावना करना चाहिये। उसी में तत्पर और उत्साहित होकर, उसी का आदर करना चाहिये और उसी में श्रद्धा-ज्ञान को लगाना चाहिये।—इसप्रकार सब तरह से आत्मस्वरूप के अनुभव का प्रयत्न करने पर अवश्य उसकी प्राप्ति होती है। अंतर में जब ऐसा प्रयत्न जागृत हो, तभी आत्मा की लगन कही जाती है।

यहाँ कई बोल कहकर यह बतलाया है कि जिज्ञासु को आत्मस्वरूप के अनुभव की आकांक्षा कितनी तीव्र होती है! जिसप्रकार—इकलौता पुत्र खो गया हो तो वहाँ माता उसे किस-किस प्रकार से ढूँढती है?—और यदि कोई उसका पता बतलाये या मिल जाने की बात कहे तो कितने उत्साहपूर्वक सुनती है? उसीप्रकार जिज्ञासु को आत्मस्वरूप के निर्णय के ऐसी लौ लगी है कि बारम्बार उसी का श्रवण, उसी की पृच्छा, उसी की इच्छा, उसी में तत्परता और उसी के विचार करता है। जगत के विषयों का रस उसे छूटता जाता है और आत्मा के रस में वृद्धि होती रहती है।—ऐसे दृढ़ अभ्यास से ही आत्मा की प्राप्ति (अनुभव) होती है।

जिज्ञासु को आत्मा की कैसी लगन होती है, वह बतलाने के लिये यहाँ माता-पुत्र का अच्छा दृष्टान्त दिया है कि—किसी माता का इकलौता पुत्र खो जाये तो वह उसे किस प्रकार ढूँढती है!! जो भी मिले उससे यही बात कहती है कि 'कहीं मेरा पुत्र देखा है?' ...जानकारों से यही पूछती है कि—'तुम्हें मेरे पुत्र का पता है!!'—एक मिनिट भी उसका पुत्र उसके चित्त से नहीं हटता। दिन-रात उसी की प्राप्ति के लिये तीव्र उत्सुकता से झूरती है... उसीप्रकार जिसे आत्मस्वरूप की जिज्ञासा जागृत हुई है, वह आत्मार्थी जीव, सत्समागम से उसे ढूँढता है, उसी की बात पूछता है कि—'प्रभो! आत्मा का अनुभव कैसा होता है!!' दिन-रात आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की भावना दिन-रात वर्तती है, एक क्षण भी उसे नहीं भूलता... एक आत्मा की ही लौ-लगन लगी है। ऐसी लगन से दृढ़ प्रयत्न करने पर अवश्य आत्मा का अनुभव होता है; इसलिये वही करने योग्य है।—ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है।

'रुचि अनुयायी वीर्य'—अर्थात् जिसे आत्मा की सच्ची रुचि और आकाँक्षा जागृत हुई हो, उसका प्रयत्न बारम्बार आत्मोन्मुख होता रहता है। जिसप्रकार—जिसे देह में आत्मबुद्धि है, वह देह को अच्छा रखने के लिये दिन-रात प्रयत्न और चिंता करता रहता है; जिसे पुत्र का प्रेम है, वह पुत्र के लिये किस तरह झूरता है ?—खान-पान में चित्त नहीं लगता और 'मेरा पुत्र'—ऐसी झूरना निरंतर बनी रहती है ! उसीप्रकार जिसे इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की सच्ची प्रीति है, वह उसकी प्राप्ति के लिये दिन-रात झूरता है, अर्थात् उसी में बारम्बार प्रयत्न करता रहता है... विषय-कषाय उसे नहीं रुचते... एक चैतन्य के अतिरिक्त अन्य, कहीं उसे चैन नहीं पड़ता... उसी का भावना भाता है, उसी की बात ज्ञानियों से पूछता है... उसी का विचार करता है।

जिसप्रकार माता के वियोग में छोटा बच्चा झूरता है, उसे कहीं चैन नहीं पड़ता; कोई पूछे कि—तेरा नाम क्या है ?—तो कहता है कि 'मेरी माँ...' खाना दो तो कहता है कि—'मेरी माँ... !'—इसप्रकार एक ही झूरना चलती है... माता के बिना उसे कहीं चैन नहीं पड़ता... क्योंकि उसकी रुचि का पोषण माता की गोद में हुआ है। उसीप्रकार जिज्ञासु आत्मार्थी जीव की रुचि का पोषण एक आत्मा में ही हुआ है; मुझे आत्मस्वरूप की प्राप्ति कैसे हो—इसके अतिरिक्त अन्य कुछ उसे नही रुचता... दिन-रात वही चर्चा... वही रटना... उसी केलिये झूरना। देखो, ऐसी अंतरंग तीव्र आकाँक्षा जागृत हो, तब आत्मा की प्राप्ति होती है और जिसे एक बार आत्मा की प्राप्ति हो गई—अनुभव हो गया, वह सम्यक्त्वी भी फिर बारम्बार उसी के आनंद की कहानी-चर्चा-विचारणा और भावना करता है। 'आत्मा का आनंद ऐसा... आत्मा की अनुभूति ऐसी... निर्विकल्पता ऐसी... 'इसप्रकार उसी की लगन लगी है। ज्ञान और आनंद ही मेरा स्वरूप है—ऐसा जानकर एक उसी की लौ लगी है, उसी में उत्साह है—अन्यत्र कहीं उत्साह नहीं है। ऐसी लगनपूर्वक ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की भावना से दृढ़ प्रयत्न से-अज्ञान छूटकर ज्ञानमय निजपद की प्राप्ति होती है।

नया प्रकाशन

ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव

यह जैनधर्म का महत्व पूर्ण तात्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है, जो तत्त्व जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधान रूप-अपूर्व दिव्य ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज है।

१— जिसमें क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण व विपरीत कल्पनाओं का निराकरण है।

२— सम्यक् अनेकान्त गर्भित सम्यक् नियतवाद [जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ तथा अनेकान्त है।]

३— अनेकान्त, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४— द्रव्य-पर्याय संबंधी अनेकांत, अनेकांत का प्रयोजन।

५— अनंत पुरुषार्थ।

६— वस्तु विज्ञान अंक [जिसमें प्रवचनसारजी गाथा ९९ ऊपर श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।]

७— आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो ? - यह विषय में श्री प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है, उस पर विशिष्ट प्रवचनों का सार [जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से आत्मद्रव्य का वर्णन है।] पक्की बढ़िया जिल्द सुंदर कागज व सुंदर टाइप में उत्तम छपाई, पत्र सं० ४००,

मूल्य २॥ पोस्टेज अलग

नया प्रकाशन

सम्यग्दर्शन

(दूसरी आवृत्ति)

जिसमें सम्यग्दर्शन कैसी अपूर्व-महान चीज़ है और कैसे प्राप्त हो – इस बात को लेकर जैनधर्म की तात्त्विक महानता और प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान स्पष्ट करके दर्शाये हैं, जो अवश्य पढ़ने योग्य हैं। विचारवान् जीवों के लिये प्रथम कर्तव्य क्या है, सुखी कैसे बनें, वह समझने के लिये अमूल्य निधि है।

पत्र सं० २७४ मूल्य १ ॥=) पोस्टेज अलग

पता—जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-	
द्वितीय भाग	॥-)	६-७-८-१० वर्ष	३ ।।।)
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।